M.A HINDI- HIN- 401

दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र

Centre for Distance & Online Education

जम्मू विश्वविद्यालय
University of Jammu
जम्मू
Jammu

पाठ्य सामग्री

STUDY MATERIAL

एम. ए. हिन्दी

M.A. (HINDI)

SESSION : 2025 Onwards

पाठ्यक्रम संख्या 401

COURSE CODE 401

पाठ्यक्रम शीर्षक :

हिन्दी नाटक एवं रंगमंच

Title of Course :
Hindi Natak Avam Rang Manch

आलेख संख्या-1 से 14 तक

Lesson No. 1-14

सत्र-चतुर्थ

Semester - IV

Prof. Anju Sharma
Co-ordinator
P.G. Hindi

इस पाठ्य सामग्री का रचना स्वत्व/प्रकाशनाधिकार
दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू-180006 के पास सुरक्षित है।

http:/www.distanceeducation.in
Printed and published on behalf of the Centre for Distance & online Education, University of Jammu by the Director, CD&OE, University of Jammu, Jammu.

M. A. HINDI

Course Contributors

- **Prof. Parmeshwari Sharma** — L.No. 1 - 4
  Retd. Professor, Department of Hindi
  University of Jammu
- **Prof. Rajni Bala** — L.No. 5 - 8
  Professor, Department of Hindi
  University of Jammu, Jammu.
- **Prof. Pushp Pal Singh** — L.No. 9 - 11
  Retd. Professor,
  Department of Hindi, Punjabi University, Patiala
- **Retd. Prof. Babu Ram** — L.No. 12 - 14
  Professor,
  Department of Hindi
  Kurukshetra University

Course Co-ordinator
Prof. Anju Sharma
DD&OE

Teacher Incharge
Dr. Pooja Sharma
DD&OE

Review, Proof Reading and Content Editing
Dr. Pooja Sharma
Lecturer in Hindi (DD&OE, University of Jammu, Jammu)

© Directorate of Distance & Online Education, University of Jammu, Jammu, 2023

- All rights reserved. No part of this work may be reproduced in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from the DD&OE, Universityof Jammu.
- The script writer shall be responsible for the lesson/script submitted to the DD&OE and any plagiarism shall be his/her entire responsibility.

•Printed by : DTP Print-o-Pack / 24 / 250

Syllabus of Master Degree Programme in Hindi under Non CBCS
Semester 4th

Course Code : HIN-401 | **Title : Hindi Natak Avam Rang Manch**
Credits : 5 | **Maximum Marks : 100**
Duration of Examination : 3 Hrs. | **a) Internal = 20**
b) External = 80

Syllabus for the Examination to be held in 2023, 2024 & 2025

इकाई–एक

जयशंकर प्रसाद – चन्द्रगुप्त।
मोहन राकेश – आधे–अधूरे।
शंकर शेष – एक और द्रोणाचार्य।
भुवनेश्वर – तांबे के कीड़े।

इकाई–दो

प्रसाद की नाट्य दृष्टि और 'चन्द्रगुप्त' ।
'चन्द्रगुप्त' की ऐतिहासिकता।
'चन्द्रगुप्त' की रंगमंचीयता ।
'चन्द्रगुप्त' की नाट्य कला।

इकाई–तीन

'आधे–अधूरे' में चित्रित आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन ।
'आधे–अधूरे' की पात्र परिकल्पना।
'आधे–अधूरे' की रंगमंचीयता।
'आधे–अधूरे' में तनाव और अलगाव।

इकाई–चार

'एक और द्रोणाचार्य' में मिथकीय चेतना।
'एक और द्रोणाचार्य' में व्यवस्था और बुद्धिजीवी का संघर्ष
'एक और द्रोणाचार्य' की रंगमंचीय

असंगत नाटक की विशेषताओं के संदर्भ में 'तांबे के कीड़े'।
'तांबे के कीड़े' की प्रतीक–योजना।
'तांबे के कीड़े' की भाषिक विशेषता।

प्रश्न पत्र का प्रारूप

कोर्स कोड HIN-401 के प्रश्न पत्र का प्रारूप इस प्रकार होगा

मुख्य परीक्षा (External Exam) अंक : 80 **समय : तीन घण्टा**

(क)	इकाई एक में निर्धारित प्रत्येक पुस्तक में से एक-एक सप्रसंग व्याख्या पूछी जायेगी। विद्यार्थी को कोई तीन सप्रसंग व्याख्यायें करनी होंगी।	**6x3 = 18**
(ख)	शत-प्रतिशत विकल्प के साथ तीन दीर्घ उत्तरापेक्षी प्रश्न।	**10x3 = 30**
(ग)	शत-प्रतिशत विकल्प के साथ तीन लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न।	**6x3 = 18**
(घ)	शत-प्रतिशत विकल्प के साथ तीन अति लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न।	**3x3 = 9**
(ङ)	पाँच वस्तुनिष्ठ विकल्परहित प्रश्न पूछे जायेगे।	**1x5 = 5**

3.8 **संस्तुत पुस्तकें**

1. प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना – गोविन्द चातक।
2. हिन्दी नाटक – बच्चन सिंह।
3. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच – नेमीचन्द्र जैन।
4. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच – डा० लक्ष्मीनारायण लाल।
5. रंगदर्शन – डा० नेमीचन्द्र जैन।
6. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के संदर्भ में – डा० रीता कुमार।
7. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास – डा० दशरथ ओझा।

....

विषय–सूची

आलेख सं.	विषय	आलेख लेखक का नाम	पृ. सं.
1.	प्रसाद की नाट्य दृष्टि और 'चन्द्रगुप्त'	प्रो० परमेश्वरी शर्मा	4
2.	'चन्द्रगुप्त' नाटक की ऐतिहासिकता	प्रो० परमेश्वरी शर्मा	15
3.	'चन्द्रगुप्त' की रंगमंचीयता	प्रो० परमेश्वरी शर्मा	22
4.	'चन्द्रगुप्त' की नाट्य कला	प्रो० परमेश्वरी शर्मा	30
5.	'आधे–अधूरे' में तनाव और अलगाव	प्रो० रजनी बाला	37
6.	'आधे–अधूरे' में चित्रित आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन	प्रो० रजनी बाला	47
7.	'आधे–अधूरे' की पात्र परिकल्पना	प्रो० रजनी बाला	56
8.	'आधे–अधूरे' की रंगमंचीयता	प्रो० रजनी बाला	66
9.	एक और द्रोणाचार्य : मिथकीय चेतना/योजना	प्रो० पुष्पपाल सिंह	78
10.	'एक और द्रोणाचार्य' में व्यवस्था और बुद्धिजीवी का संघर्ष	प्रो० पुष्पपाल सिंह	86
11.	रंगमंचीय दृष्टि से 'एक और द्रोणाचार्य' की सार्थकता	प्रो० पुष्पपाल सिंह	94
12.	असंगत नाटक की विशेषताओं के संदर्भ में 'तांबे के कीड़े'	प्रो० बाबू राम	104
13.	'तांबे के कीड़े' की प्रतीक–योजना	प्रो० बाबू राम	113
14.	'तांबे के कीड़े' की भाषिक विशेषता	प्रो० बाबू राम	120

प्रसाद की नाट्य दृष्टि और 'चन्द्रगुप्त'

1.0 रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3. प्रसाद का नाट्य संबंधी दृष्टिकोण

1.4 नाटक और रंगमंच

1.5 प्रसाद की नाट्य दृष्टि और 'चन्द्रगुप्त'

1.6. सारांश

1.7 कठिन शब्द

1.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.9. सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. नाटकों के आरम्भ और रंगमंच की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
2. नाटकों में रस के प्रयोग को जाने सकेंगे।
3. प्रसाद के नाट्य संबंधी दृष्टिकोण से अवगत होगे।

1.2. प्रस्तावना

जयशंकर प्रसाद ने नाटकों की रचना के साथ–साथ नाटक विधा के बारे में समय–समय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने इस विषय पर बहुत अधिक नहीं लिखा है, लेकिन जो भी लिखा है, उससे नाटक संबंधी उनके विचारों को समझने में पर्याप्त मदद मिलती है। प्रसाद ने 'हिन्दी' में नाटक का स्थान **नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरम्भ और रंगमंच** नामक अपने लेखों में नाटक और रंगमंच पर विचार किया है। नाटक संबंधी उनके विचारों का विवेचन इन निबंधों के आधार पर ही किया गया है।

जयशंकर प्रसाद ने जब नाटक लिखना आरम्भ किया था, तब हिन्दी में नाटकों की समृद्ध परंपरा नहीं थी । भारतेंदु युग के लखकों द्वारा लिखे नाटक ही उनके सामने मौजूद थे। लेकिन उनके समक्ष संस्कृत और पश्चिमी नाटकों की समृद्ध परम्परा मौजूद थी। उनके लेखन से यह जाहिर होता है कि उन्होंने सस्कृत के नाटकों का ही नहीं वरन् संस्कृत में नाट्य संबंधी अवधारणाओं का भी गहरा अध्ययन – मनन किया था। इसके साथ ही वे पश्चिम के नाट्य चिंतन और नाटकों की परम्परा से भी भलीभाँति परिचित थे। भारत में उस समय जो रंगमंच उपलब्ध था, उस पर पश्चिम के नाटकों और रंगमंच का गहरा असर था। लेकिन यह असर दो रूपों में दिखाई देता है। पहला, शिक्षित समाज के लिए खेला जाने वाला अभिजात्य नाटक और दूसरा, जनसाधारण के लिए खेला जाने वाला पारसी रंगमंच। प्रसाद हिंदी पर पारसी रंगमंच के प्रभाव को अच्छा नहीं समझते थे और वे पाश्चात्य प्रभाव के इन दोनों रूपों से भिन्न भारत की अपनी नाट्य परंपरा के अनुरूप हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास के समर्थक थे। भारतेन्दु हरिश्चंद्र से भिन्न प्रसाद ने प्रायः अपने नाटकों की रचना में लोकनाट्य परंपरा के प्रभाव को स्वीकार नहीं किया। यह उल्लेखनीय भी है कि प्रसाद ने नाटकों के बारे में अपने लेखन में संस्कृत नाट्य परंपरा का ही हवाला दिया है। पारसी रंगमंच की उनकी कटु आलोचना, जिसका उल्लेख हम आगे विस्तार से करेंगे, को सही परिप्रेक्ष्य में समझने की जरूरत है।

1.3 प्रसाद का नाट्य संबंधी दृष्टिकोण

जयशंकर प्रसाद नाटक को **'कला का विकसित रूप'** मानते हैं। उनके विचार में, नाटक में, **'सब ललित सुकुमार कलाओं का समन्वय है।'** यह कला का विकसित रूप इसलिए भी है क्योंकि नाटक में दृश्य और श्रव्य दोनों कलाओं की अनुभूति होती है। प्रसाद नाटक का उद्देश्य यह नहीं मानते कि **'जहाँ मनुष्य अपने को भूल जाए और तल्लीन हो जाए।'** वे प्रश्न करते हैं कि **'क्या यह ह्रदय – वृत्ति को (Sentiment) उत्तेजित करके मोह लेना मात्र न होगा ?** क्या विवेक ह्रदय शुद्ध, बुद्ध–सत्य (Reason) से उसका कुछ भी संबंध होगा ? उनके अनुसार, **'जो नाटक मनोभाव का विश्लेषण करके चमत्कार के बल से मोहता हुआ, अतः करण में आदर्श सत्य को स्वंयमेव विकसित कर देता है, उसे ..... सभी सम्य जातियों के साहित्य में सम्मान मिला है।'** नाटक की यह परिभाषा कई अर्थों मे महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद इसमें मनुष्य के मनोभावों की प्रस्तुति के माध्यम से चमत्कार उत्पन्न करने और उसके द्वारा दर्शक के ह्रदय में सहज रूप से आदर्श को विकसित करने पर जोर देते हैं। सरल शब्दों में कहें तो प्रसाद नाटकीयता और सोद्देश्यता दोनों को नाटक के लिए जरूरी मानते हैं।

प्रसाद ने नाटकों में रस के प्रयोग के संदर्भ में नाटक की भारतीय और पाश्चात्य धारणाओं की तुलनात्मक विवेचना की है। प्रसाद के अनुसार पश्चिम में कला को अनुकरण माना जाता है। जबकि यहाँ कला में दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा की जाती है। भरत के हवाले से वे कहते हैं कि **'आत्मा का अभिनय भाव है। भाव ही आत्म चैतन्य में विश्रान्ति पर जाने पर रस होते हैं । जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों से रस की।'** इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट है।

यहाँ पर दोहराने की जरूरत नहीं है कि रस सिद्धान्त का विकास नाटक के संदर्भ में ही हुआ था। भरत का रस–निष्पत्ति संबंधी प्रसिद्ध सूत्र **'तत्र विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्ति'** में तत्र का तात्पर्य रंगमंच ही है। जहाँ नाटक का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। भरत के अनुसार नाटक देखते हुए जो हृदय स्थित भाव है, वही परिपक्व होकर रस रूप में परिणत होते हैं। जब अभिनेता अपने आत्म चैतन्य में तल्लीन हो जाता है तो उसका भाव रस रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार पश्चिम में नाटक के केंद्र में अनुकरण होता है जबकि भारत में रस।

प्रायः यह बात कही जाती है कि भारतीय नाटकों का अंत हमेशा सुख या आनंद में होता है जबकि पश्चिम में बल दुखांत पर रहता है। प्रसाद का विचार है कि पश्चिम के लोगों को आर्यों के विपरीत उपनिवेशों की खोज में दुर्गम भूभागों में भटकना पड़ा और विपरीत परिस्थितियों से निरंतर संघर्ष करते हुए उन्हें जीवन जीना पड़ा। जीवन की इस कठिनाई पर अधिक ध्यान देने के कारण पश्चिम ने इस जीवन को ही दुःखमय (ट्रेजेडी) समझ लिया। प्रसाद का भी यही मानना है कि **'ग्रीस और रोमन लोगों को बुद्धिवाद – भाग्य से, और उसके द्वारा उत्पन्न दुःख पूर्णता से संघर्ष करने के लिए अधिक अग्रसर करता रहा । उन्हें सहायता के लिए संघबद्ध होने पर भी, व्यक्तित्व के, पुरुषार्थ के विकास के लिए मुक्त अवसर देता रहा, इसलिए उनका बुद्धिवाद, उनकी दुःख भावना के द्वारा अनुप्राणित रहा। इसी को साहित्य में उन लोगों ने प्रधानता दी।'** प्रसाद के इस कथन से स्पष्ट है कि पश्चिम के नाटकों में त्रासदी का जोर रहा तो इसीलिए कि उनकी परिस्थितियों ने उन्हें लगातार दुःख और संघर्ष की ओर अग्रसर किया और चूंकि उन्होंने भावना की बजाए बुद्धि पर अधिक भरोसा किया इसलिए उन्होंने इस दुख को ही जीवन का सत्य समझ लिया। खास बात यह भी है कि प्रसाद इसको सिर्फ नाटकों का ही गुण नहीं मानते वरन् संपूर्ण पश्चिमी साहित्य की विशेषता मानते हैं।

1.4 नाटक और रंगमंच

आमतौर पर यह मान्यता रही है कि नाटकों की रचना रंगमंच को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। लेकिन प्रसाद जी इससे सहमत नहीं है। उनका स्पष्ट मत है कि नाटकों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है। वे इस बात को स्वीकार नहीं करते कि रंगमंच की नाटक में केंद्रीय स्थिति होती है। भारतीय रंगमंच के विकास पर विस्तार से विचार करते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया है। यहाँ यह ध्यान दिलाना आवश्यक है कि प्रसाद के नाटकों की रंगमंचीयता को लेकर हमेशा विवाद रहा है। संभवतः प्रसाद जी भी इस बात के प्रति सजग थे। यही कारण है कि उन्होंने नाटकों पर रंगमच के दबाव को मानने से इन्कार कर दिया। भारतीय रंगमच की विकास परम्परा पर विचार करते हुए उन्होंने यह साबित करने का प्रयास किया है कि रंगमंच का निर्धारण नाटक से होता है, न कि रंगमंच नाटक को निर्धारित करता है। उन्हीं के शब्दों में, **'रंगमंच की बाध्य–बाधकता पर जब हम विचार करते हैं, तो उसके इतिहास की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और**

यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं।' इसका कारण प्रसाद के अनुसार यह है कि 'रसानुभूति के अनंत प्रकार नियमबद्ध उपायों से नहीं प्रदर्शित किए जा सकते।

रंगमंच के बारे में प्रसाद की यह धारणा इसलिए बनी क्योंकि प्रसाद के समय में जो रंगमंच उपलब्ध था, वे संतुष्ट नहीं थे। उनका विचार था कि संस्कृत की जो सबल रंगमंचीय परंपरा थी, उसे मध्य युग में खत्म कर दिया गया। प्रसाद के अनुसार, 'मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की सर्व साधारण प्राचीन रंगशालाओं को तोड़–फोड़ दिया। धर्मान्ध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो देवालयों से संलग्न मण्डपों में छोटे–छोटे अभिनय सर्व–साधारण के लिए सुलभ रह गए, प्रसाद का संकेत लोकनाट्य रूपों की तरफ है जो संस्कृत नाटय परंपरा के विलुप्त होने के बावजूद लगातार खेले जाते रहे। भारत में लोक नाटकों की परंपरा अति प्राचीन है। अगर हम संस्कृत नाटकों की प्रसिद्ध परंपरा पर विचार करें तो इस बात को आसानी से समझ सकते हैं कि संस्कृत नाटकों में जो प्रौढ़ता और शास्त्रीयता नज़र आती है, वह तब तक संभव नहीं हो सकती, जब तक कि उसके पीछे लोक नाटकों की परंपरा मौजूद न रही हो।

बुद्धिवाद और दुख को प्रधानता देने के कारण ही प्रसाद के अुनसार पश्चिमी सिद्धान्त मनुष्य के **'चरित्र – निर्माण का पक्षपाती'** है। नाटक देखकर या कविता पढ़कर यदि मनुष्य अपने को बुराई की तरफ जाने से रोकता है और अपने चरित्र में संशोधन करता है तो साहित्य का लक्ष्य पूरा हो जाता है। मौजूदा साहित्य की दो प्रमुख विशेषताओं व्यक्ति – वैचित्र्य और यथार्थवाद को वे इसी दृष्टि से देखते हैं। स्वयं उनके शब्दों में, **'कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न करके समाज का संशोधन है, और कहीं सामज की दृष्टि से व्यक्ति का ! किंतु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके भी वह दुःख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है।"**

पश्चिम के विपरीत भारतीय परंपरा रस पर आधारित है। इसको प्रधानता देने का मुख्य कारण प्रसाद जी के अनुसार यह था कि आर्यों को पश्चिमवासियों की तरह घरबार छोड़कर इधर–उधर भटकना न पड़ा था। भारतीय आर्य निराशावादी नहीं थे। उनके शब्दों में, **'करूण रस था, उसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद निर्विकार, आनंद लेने में अधिक सुख माना।'** प्रसाद जी का मानना है कि रस में लोकमंगल की भावना प्रच्छन्न रूप में विद्यमान रहती है। भारतीय परम्परा में लोकमंगल स्थूल सामाजिक रूप में नहीं बल्कि दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर मौजूद रहता है। इसके विपरीत पश्चिम में वासना का आधार रहता है और **'वासना से ही क्रिया संपन्न होती है और क्रिया के संकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने पर, व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उस महत्ती लीलाओं से विद्रोह करता है।** इस प्रकार प्रसाद के अनुसार पश्चिम का साहित्य व्यक्ति और समाज की वासनात्मक क्रियाओं से ही संचालित और प्रेरित होता है, और यही कारण है कि उसमें किसी दार्शनिक श्रेष्ठता के दर्शन नहीं होते।

प्रसाद जी के अनुसार रसवाद को अपनाने के कारण मनुष्य की वासनात्मक मनोवृत्तियाँ साधारणीकरण के द्वारा आनंदमय बना दी जाती हैं। इससे मनुष्य की वासना का संशोधन हो जाता है। इससे मनुष्य की विशिष्टता और विभिन्नता समाप्त हो जाती है और उसकी भावनाओं को मानवीय आधार मिल जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से साफ है कि जयशंकर प्रसाद नाट्य रचना के लिए पश्चिम के अनुकरण सिद्धांन्त, बुद्धिवाद और दुख व निराशा को स्वीकार नहीं करते। वे नाटक में लोकमंगल को स्वीकार करते हुए भी रस को ही उसका लक्ष्य मानते हैं।

लेकिन जहाँ तक मध्ययुग में नाटकों की परम्परा के खत्म होने का सवाल है; तो उसका कारण **'धर्मान्ध आक्रमण'** शायद नहीं है। यह एक मिथ्या धारणा है कि मुसलमानों के आगमन के कारण नाटकों का लेखन और मंचन बंद हो गया जबकि सच्चाई यह है, कि आठवीं सदी के बाद से ही नाटकों का मंचन काफी कम हो गया था जबकि परम्परागत लोक नाट्य रूपों की प्रस्तुति हमेशा अबाध रूप में जारी रही। नाटकों के लेखन और प्रदर्शन में लगातार कमी आने का कारण शायद यह था कि ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म का अभिजात और पंडित वर्ग नाट्य कला को हीन दृष्टि से देखता था। दूसरे, इस पूरे दौर में राजनीतिक अस्थिरता और सामंतवर्ग की सांस्कृतिक पतनशीलता के चलते भी अभिजात्य रंगमंच आधारित नाटकों को राजाश्रय मिलना बंद हो गया। मुगलों के दौर में जब भक्ति आंदोलन ने एक व्यापक सांस्कृतिक जागरण की स्थिति पैदा की, तब अभिजात्य रंगमंच की वैसी आवश्यकता महसूस नहीं की गई क्योंकि भक्ति आंदोलन जनता के जिस हिस्से के बीच सक्रिय था, उसमें पहले से ही लोक नाटय की समृद्ध परंपरा मौजूद थी और भक्ति आंदालेन के दौर में इन नाट्य शैलियों का न केवल उपयोग किया गया बल्कि कई नई नाट्य शैलियाँ विकसित भी हुईं। उसी मध्य युग में साहित्य, संगीत, चित्र, स्थापत्य आदि प्रायः सभी ललित कलाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ था। अगर मध्यकालीन विदेशी आक्रमणकारी इसका कारण होते, तो इसका असर लोक नाट्य रूपों पर भी पड़ता । लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इसलिए प्रसाद जी का यह विचार तथ्यपरक नहीं जान पड़ता कि नाटकों की परंपरा का लोप विदेशी आक्रमणकारियों की वजह से हुआ।

प्रसाद जी ने इसी क्रम में लिखा है कि **'उत्तरीय भारत में तो औरंगजेब के समय में ही साधारण संगीत का भी जनाजा निकाला जा चुका था, किंतु रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गये, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के आने के पहले भी देखते रहे हैं।'** यहाँ प्रसाद जी का संकेत कतिपय लोक नाट्य रूपों की ओर है। प्रसाद जी ने इस बात पर विचार नहीं किया है कि पारसी थियेटर के नाटकों का संबंध क्या इन लोक नाट्य रूपों से भी रहा है या वे सिर्फ पश्चिम के अंधानुकरण से ही विकसित हुए हैं। इस मुद्दे पर विचार करने के लिए पारसी नाटक और रंगमंच की पृष्ठभूमि को जानना जरूरी है।

रंगमंचीय नाटकों को लिखने और खेले जाने की दुबारा शुरूआत अंग्रेजों के शासनकाल में हुई जब कलकत्ता और दूसरे महानगरों में विदेशी, विशेषकर अंग्रेजी नाटक खेले जाने लगे। उन्हीं के अनुकरण के बाद में भारतीय भाषाओं में भी नाटक लिखे और खेले जाने लगे। रंगमंच आधारित इन नाटकों की दो परंपराओं का

विकास हुआ। एक तरह के नाटक वे थे जिनका उद्देश्य नाटय विधा का कलात्मक विकास करना था और जो नाटकों की रचना और मंचन को सामाजिक सोद्देश्यता से जोड़ते थे जबकि दूसरी तरह के नाटक वे थे जिनका उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन था और इस मनोरंजन द्वारा वे थियेटर को व्यावसायिक रूप देना चाहते थे। इस दूसरे प्रकार के रंगमंच को लोकप्रिय बनाने में पारसी रंगमंच का बहुत बड़ा हाथ है, जिसका उल्लेख प्रसाद जी ने किया है।

पारसी रंगमंच के बारे में कोई भी राय बनाने से पहले यह जान लेना बहुत जरूरी है कि इसकी शुरूआत किस तरह हुई । 1846 ई॰ में बंबई के मशहूर व्यापारी जगन्नाथ शंकर सेठ ने बंबई के ग्रांट रोड पर ग्रांट रोड थियेटर के नाम से नए थियेटर की शुरूआत की। शुरू में यहाँ अंग्रेजी में नाटक खेले गए, परन्तु जल्दी ही वहाँ गुजराती, मराठी और हिंदी–उर्दू में नाटक खेले जाने लगे। इस थियेटर को न तो सरकारी संरक्षण मिला था और न ही इसे अभिजात वर्ग के दर्शक देखने आते थे। आमतौर पर वहाँ नाविक, सिपाही और छोटे–मोटे व्यापारी, दुकानदार ही आते थे। 1853 तक इस थियेटर में अंग्रेजी में नाटक खेले जाते थे लेकिन जब हिंदुस्तानी दर्शकों की संख्या बढ़ने लगी तो नाटक भी हिंदुस्तानी भाषाओं में खेले जाने लगे। इसी दौरान बंबई में **'पारसी ड्रामेटिक कोर'** का जन्म हुआ जिसने ग्रांट रोड थियेटर में **'रूस्तम जबोली और सोहरान'** नाम से गुजराती नाटक प्रस्तुत किया। इसकी कथा फिरदौसी के 'शाहनामा' से ली गई थी। इसके बाद तो पारसी थियेटर के नाम से हिंदुस्तानी भाषाओं में नाटकों का सिलसिला चल निकला। यहाँ यह कहना जरूरी है कि शुरू में पारसी थियेटर में फारसी (ईरान) की कथाओं को नाटकों का विषय बनाया गया था लेकिन जब हिंदू–मुसलमान दर्शकों की संख्या बढ़ने लगी तो हिंदू–मुस्लिम इतिहास और परंपरा से भी कथानक लिए जाने लगे। पारसी थियेटर के नाटकों में ऐतिहासिक, पौराणिक विषयों का बोलबाला था और उन्हें प्रायः रूमानी और मेलेड्रामाई रूप में प्रस्तुत किया जाता था। हालांकि थोड़ा बहुत प्रभाव ऐलिजाबेथीयन थियेटर का भी व्यक्त होता था। पारसी थियेटर के नाटकों का संगीत आमतौर पर शास्त्रीय संगीत था, विशेष रूप से ठुमरी, दादरा, झिंझोटी आदि का प्रयोग होता था। लेकिन कहीं–कहीं पश्चिमी संगीत का प्रभाव भी झलकता था। पारसी थियेटर में काव्य का स्तर आमतौर पर हल्का और बाजारू किस्म का होता था। शुरू में पारसी नाटकों में संगीत नहीं होता था। संवाद गद्य में होते थे, लेकिन बाद में संगीत और गीत तथा पद्यबद्ध संवाद पारसी रंगमंच की खास पहचान बन गए। पारसी रंगमंच के सदंर्भ में इंदर सभा का उल्लेख करना जरूरी है। इंदर सभा के लेखक सैयद आगा हसन थे जो अमानत उपन्यास से लिखते थे। इसकी रचना उन्होंने 1853 में की थी और पारसी थियेटर के नाटकों पर इसका जबरदस्त प्रभाव पड़ा था । इंदर सभा में वे सब विशेषताएँ थीं जिन्हें पारसी थियेटर के लोकप्रिय नाटकों में अपनाया गया। चमत्कार पूर्ण कथा, संगीत, गीत नृत्य और चुटीले पद्यबद्ध संवाद इंदर सभा की विशेषता थे। **'इंदरनामा'** और उससे प्रभावित नाटकों की विशेषता यह भी है कि वे सभी कविताबद्ध नाटक हैं। जिनमें विभिन्न छंदों और राग–रागिनियों का समावेश किया गया था।

जब प्रसाद ने नाटक लिखना आरंभ किया था, तब पारसी थियेटर अपनी लोकप्रियता के शिखर पर था। हिंदी जन समुदाय के बीच, विशेषकर शहरी लोगों के बीच यह रंगमंच अत्यंत लोकप्रिय था और नौटंकी जैसे

कुछ लोकनाट्य रूपों पर भी इसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि प्रसाद जी पारसी रंगमंच के प्रभाव से चिंतित होते। प्रसाद जी को पारसी थियेटर देखने का अवसर मिला था और वे उसकी विशेषताओं से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने रंगमंच नामक निबंध में विस्तार से इस संबंध मे अपने विचार रखे हैं।

प्रसाद जी का मानना था कि पारसी रंगमंच ने **शेक्सपीरियन स्टेज का अनुकरण** किया था। उनका यह कथन कुछ सीमा तक सत्य है, लेकिन पूरी तरह सही नहीं । यह सत्य है कि पारसी रंगमंच की शुरूआत शेक्सपीरियन स्टेज के अनुकरण से हुई थी, लेकिन जब इसके दर्शक अंग्रेजी अभिजात वर्ग के बाजार के साधारण लोग हो गए तो, इस मंच पर खेले जाने वाले नाटकों और उसकी प्रस्तुति में भी फेरबदल हो गया। इस परिवर्तन ने थियेटर का बाह्य रूप तो कमोबेश वही रखा, लेकिन आंतरिक संरचना में बदलाव ला दिया। नाटकों की प्रस्तुति में ऐलिजाबेथीयन अभिजात का दबाव काफी कम हो गया। प्रसाद का यह कहना भी कुछ हद तक सही है कि पारसी रंगमंच पर भारतीय रंगमंच का प्रभाव नहीं था । लेकिन ऐसा नहीं है कि उसका भारतीय रंगमंच से कोई संबंध नहीं था। वस्तुतः प्रसाद जी जिसे भारतीय रंगमंच कह रहे हैं, वह भारतीय रंगमंच की अभिजात परंपरा है, जिसका प्रभाव कुछ कथानकों को छोड़कर पारसी रंगमंच पर नज़र नहीं आता। लेकिन **इंदर सभा, चित्रा–बकावली, चंद्रावली, हरिश्चंद्र** आदि जिन नाटकों की उन्होंने चर्चा की है, उनका संबंध भारत की इस नाट्य परंपरा से है, जिसका मूल नाटकों में है। नौटंकी, भाग, आदि नाट्य रूपों को फारसी प्रेम कथाओं और अंग्रेज़ी रंगमंच से मिलाकर पारसी रंगमंच ने अपना मार्ग बनाया था।

पारसी रंगमंच पर विचार करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है कि **'दृश्यांतर और चित्रपटों की अधिकता के साथ ही पारसी स्टेज ने पश्चिमी टयुनों का भी मिश्रण भारतीय संगीत में किया।** उनका कहना था कि यह काम बंगाल ने भी किया लेकिन बंगाल ने इतने भद्दे ढंग से नहीं किया था, जितने भद्दे ढंग से पारसी थियेटर ने किया था। प्रसाद जी लिखते हैं, 'पारसी स्टेज में दृश्यों और परिस्थितियों के संकलन की प्रधानता है। **वस्तु विन्यास चाहे कितना ही शिथिल हो, किंतु, अमुक परदे के पीछे वह दूसरा प्रभावोत्पादक परदा आना ही चाहिए, कुछ नहीं तो एक असंबद्ध फूहड़ भड़ँती से ही काम चल जाएगा।** 'प्रसाद जी की उक्त आलोचना से साफ है कि एक तो वे इस बात के विरूद्ध थे कि नाटकों में दृश्यों और दृश्यांतरों की प्रधानता हो। बार–बार दृश्यों के बदलने और दृश्यों की संख्या ज्यादा होने को वे उचित नहीं मानते । इस प्रवृत्ति को वे पारसी रंगमंच से जोड़ते हैं। वे इस प्रवृत्ति की भी आलोचना करते हैं कि रंगमंच पर भड़कीले परदे लगाए जाएं । लेकिन यह तो बाहरी ढांचा है, किसी नाटक की रचनात्मक प्रस्तुति में कई आंतरिक तत्त्व होते हैं, उन्हें भी मद्देनज़र रखने की जरूरत है। प्रसाद जी दृश्यों की संख्या ज्यादा होने की आलोचना करते हैं, लेकिन स्वयं उनके नाटकों में दृश्यों की बहुलता है। उदाहरण के लिए, स्कंदगुप्त के पाँच अंकों में कुल 33 दृश्य यानी प्रत्येक अंक में 6 या 7 दृश्य। इसी तरह चंद्रगुप्त के अंकों में तो दृश्यों की संख्या 10 से 14 तक है। प्रसाद ने अपने नाटकों में जैसे क्रिया

व्यापार शमिल किए हैं, उन्हें मंच पर प्रस्तुत करना नामुमकिन सा है। उनका प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रसाद के नाटकों में भी भड़कीले पर्दों की जरूरत होती है। कहने का तात्पर्य यही है कि प्रसाद जी पारसी रंगमंच की आलोचना करते हुए भी कई विशेषताओं को अपने में समाहित किए हुए हैं। ।

1.5 प्रसाद की नाट्य दृष्टि और 'चन्द्रगुप्त'

प्रसाद जी का मुख्य मुद्दा यह है कि रंगमंच को नाटक की जरूरतों के अनुसार निर्मित किया जाना चाहिए। इस बारे में प्रसाद जी का अपना मत स्पष्ट है लेकिन हमें यह देखना है कि क्या उनका वह दृष्टिकोण सही है ? नाटककार जब तक यह तय करता है कि वह एक नाटक लिखेगा, तो क्या उसका यह निर्णय ही उसे इस बात से बाँध नहीं देता कि वह रंगमंच पर खेले जा सकने वाले नाटक की रचना करे ? अगर नाटक को खेला जाना है, तो उसे रंगमंच की जरूरतों के अनुरूप होना होगा। लेकिन रंगमंच कभी एक सा नहीं रहा । वह लगातार बदलता रहा है। अगर कोई चीज़ स्थिर है तो यही कि नाटक की प्रस्तुति अभिनय के द्वारा होती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि नाटक रंगमंच पर या प्रेक्षागृह में प्रस्तुत हो लेकिन अभिनय विहीन नाटक नहीं हो सकता । स्पष्ट है कि नाटक को खेला जाएगा। इसलिए जब कोई रचनाकार नाटक लिखने को तत्पर होता है तो उसके मन में नाटक की मंचीय प्रस्तुति की कोई संकल्पना अवश्य रहती है। उसी संकल्पना के अनुरूप नाटक की रचना आकार ग्रहण करती है। यह संकल्पना उस रंगमंच का अनुकरण करे जो नाटक की रचना के दौर में मौजूद थी यह आवश्यक नहीं है। लेखक एक नयी तरह की संकल्पना के अनुसार ही नाटक की रचना कर सकता है। ऐसी स्थिति में मंचन के लिए नाटक में अंतर्निहित उस संकल्पना को समझते हुए निर्देशक रंगमंच को रूप प्रदान करता है, ताकि नाटक को सफलता के साथ खेला जा सके। इसलिए जब प्रसाद यह कहते हैं कि काव्यों (नाटकों) की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है और रंगमंच को नाटक के अनुसार अपना स्वरूप धारण करना चाहिए तो उसका तात्पर्य इतना ही हो सकता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या प्रसाद के नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत करने के योग्य नहीं हैं ? इस प्रश्न का उत्तर दो ढंग से दिया जा सकता है। एक तो यह कि स्कंदगुप्त सहित प्रसाद के लगभग सभी प्रमुख नाटक आरंभ से ही मंच पर खेले गये हैं। यही नहीं उनके नाटकों की विविध प्रस्तुतियाँ यह भी बताती हैं कि उनके नाटकों में नवीन प्रयोगों की पर्याप्त संभावना निहित है। दूसरा, यह है कि इन प्रस्तुतियों के बावजूद मोहन राकेश के नाटक या हिंदीतर भाषाओं के लोकप्रिय नाटकों की प्रस्तुति की तुलना में प्रसाद के नाटकों को खेलना ज्यादा चुनौतीपूर्ण रहा है। पात्रों की अधिकता, ऐसी घटनाओं का चित्रण जिन्हें ययार्थवादी रंगमंच पर प्रस्तुत करना असंभव सा है, उनका बाहुल्य लंबे और क्लिष्ट संवाद, दृश्यों की बहुलता आदि ऐसे कई पक्ष हैं, जिनके कारण नाटकों को खेलना आसान नहीं होता। प्रसाद की नाट्य रचनाएं पाठ्य अधिक हैं, अभिनेय कम।

प्रसाद के नाटकों में दार्शनिक विवेचनों की भरमार है, चरित्र चित्रण में वैशिष्ट्य है, भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य कला का समन्वय है और अतीत के पट पर वे वर्तमान का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

चन्द्रगुप्त जयशंकर प्रसाद द्वारा 1931 ई. में रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है जिसकी कथा भारत पर सिकन्दर के आक्रमण (326 ई.पू.) तथा मगध में नन्द वंश के पराभव एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के राजा बनने की ऐतिहासिक घटनाओं से जुड़ी है। प्रसाद जी ने जिस समय इस नाटक की रचना की उस समय हमारा देश अंग्रेजों का गुलाम था, किन्तु देश में स्वतत्रंता आन्दोलन चल रहा था। चन्द्रगुप्त नाटक में प्रसाद ने दिखाया है कि उस समय मगध में आततायी नन्द वंश का शासन था जो अपने अहंकार एवं क्षुद्र स्वार्थ के कारण विदेशी आक्रांता सिकन्दर के विरूद्ध पंचनद नरेश पर्वतेश्वर का इसलिए साथ नहीं देता क्योंकि नन्द की कन्या कल्याणी को अपनी रानी बनाने से पर्वतेश्वर ने यह कहकर इंकार कर दिया था कि हम क्षत्रिय शुद्रों की कन्या से विवाह नहीं कर सकते।

तक्षशिला नरेश अपने पुत्र अम्भीक के प्रभाव में थे। उन्होंने यवनों से उत्कोच (रिश्वत) लेकर उन्हें भारत में आक्रमण करने के लिए मार्ग दे दिया था क्योंकि वे अपने पड़ोसी राजा पर्वतेश्वर से द्वेषभाव रखते थे। वे चाहते थे कि सिकन्दर पर्वतेश्वर को पराजित करे। इस षड्यन्त्र का पता तक्षशिला गुरुकुल के आचार्य चाणक्य एवं वहां अध्ययन के लिए आए मालव के राजकुमार सिंहरण तथा मगध के सेनापति के पुत्र चन्द्रगुप्त को चल जाता है। आम्भीक की बहिन राजकुमारी अलका अपने भाई का विरोध करती है।

चन्दग्रप्त नाटक में राष्ट्रीयता की भावना सर्वत्र ओतप्रोत है। चाणक्य का स्वप्न है कि सम्पूर्ण भारत के छोटे–छोटे गणराज्य एक राजा के अधीन होकर शक्तिशाली राष्ट्र बन जाए जिससे कोई विदेशी आक्रान्ता भारत पर आक्रमण का दुस्साहस न कर सके। अपने इस स्वप्न को साकार करने लिए वह चन्द्रगुप्त को माध्यम बनाता है और अंततः अपने इस उद्देश्य में सफल भी होता है।

सिंहरण और अलका के रूप में प्रसाद ने दो ऐसे पात्र इस नाटक में प्रस्तु किए हैं जो देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत हैं। अलका के ह्रदय में देशभक्ति की भावना पूरी तरह भरी हुई है। देश के लिए अलका अपने भाई एवं पिता का भी परित्याग कर देती है सिन्धु देश की राजकुमारी मालविका अलका की सखी है तथा उसके ह्रदय में भी देश प्रेम की भावना व्याप्त है। चन्द्रगुप्त नाटक में अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र प्रस्तुत किया गया है अतीत की गाथा के द्वारा नाटककार ने वर्तमान पीढ़ी के युवकों का आहवान किया है कि वे देश की स्वतंत्रता के लिए व्यक्तिगत हितों का बलिदान करने को तत्पर रहें।

मगध के राजा नन्द का भोग विलास में लिप्त रहना तत्कालीन राजा–नवाबों की विलासी प्रवृत्ति का घोतक है। स्वतंत्रता संग्राम में नारियों की सहभागिता को चन्द्रगुप्त नाटक के अलका, मालविका प्रतिबिम्बित करते हैं।

प्रसाद जी ने इस नाटक में भारतीय संस्कृति एवं जीवन मूल्यों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। कार्नेलिया इन्हीं से प्रभावित होकर भारत की महिमा का गान वह इन शब्दों में करती है:

अरूण यह मधुमय देश हमारा।

जहां पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।।

प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना रूढ़िवादी न होकर मानवतावादी है। वे 'वसुधैवकुटुम्बकम्' के पक्षधर हैं तथा मानव को उन गुणों से समन्वित करना चाहते हैं, जो उसकी मानवता का उत्कर्ष करने वाले हों। चन्द्रगुप्त में इसी विचारधारा के अनुरूप पात्र योजना एवं कथानक सृष्टि की गई है।

1.6 सारांश

नाटककार रंगमंच के उस रूप को भले ही स्वीकार न करें, जो उसके दौर में मौजूद है, लेकिन रंगमंच (या कहना चाहिए नाट्य प्रस्तुति) की कोई संकल्पना उसके मानस में अवश्य विद्यमान रहती है, प्रसाद के संदर्भ में यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि पारसी थियेटर को अस्वीकार करते हुए भी उनकी नाट्य संकल्पना काफी हद तक उससे प्रेरित और प्रभावित है।

1.7 कठिन शब्द

1. अभिजात्य 2. धर्मान्ध 3. प्रच्छन्न 4. निर्विकार

5. प्रेक्षागृह 6. दृश्यांतर 7. असंबद्ध 8. प्रेक्षक 9. विलष्ट

1.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

. 1. प्रसाद के नाट्य संबंधी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए ।

2. प्रसाद ने जब नाटक लिखना आरम्भ किया था उस समय हिन्दी में नाटकों की समृद्ध परंपरा नहीं थी। स्पष्ट करें।

1.9 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. जयशंकर प्रसाद– आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी।
2. जयशंकर प्रसाद – रमेशचन्द्र शाह
3. प्रसाद के नाटक – सिद्धनाथ कुमार
4. प्रसाद का नाटयकर्म – सत्येन्द्र तनेजा
5. चन्द्रगुप्त – जयशंकर प्रसाद

....

चन्द्रगुप्त नाटक की ऐतिहासिकता

2.0 रूपरेखा
2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3. चन्द्रगुप्त नाटक का घटनाकाल
2.4 चन्द्रगुप्त नाटक का कुल शील निर्धारण एवं ऐतिहासिकता
2.5 नाटक की ऐतिहासिकता
2.6 अन्य पात्रों घटनाओं की ऐतिहासिकता
2.7 सारांश
2.8 कठिन शब्द
2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
2.10 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

2.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. चन्द्रगुप्त नाटक की ऐतिहासिकता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
2. ऐतिहासिक नाटकों के क्रम में प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक का स्थान निर्धारित कर सकेंगे।
3. प्रसाद ने अपने नाटकों में भारतीय इतिहास के विराट फलक को स्वीकार किया है इससे अवगत हो सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

ऐतिहासिक नाटकों के क्रम में प्रसाद के नाटक चन्द्रगुप्त का महत्वपूर्ण स्थान है, चन्द्रगुप्त नाटक की कथा में ऐतिहासिक घटनाएँ तथ्य रूप में विद्यमान हैं, पर अनेक स्थलों पर कल्पना का योग भी किया गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य तथा सिकन्दर के अभियान से सम्बन्धित जानकारी लेखक ने अनेक आधारों से प्राप्त की है।

चाणक्य लिखित अर्थशास्त्र शिलालेखों, साहित्य, बौद्ध–जैन कथाओं, चीनी यात्री हेनसाँग के यात्रा वृतांत, ग्रीक इतिहास लेखकों का अन्वेषण कर प्रसाद जी ने नायक में भूमिका के तौर पर ऐतिहासिक विश्लेषण एवं अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं।

प्रसाद इतिहास का प्रयोग एक विशिष्ट उद्देश्य से करते थे। अपनी कृतियों के उद्देश्य को प्रसाद जी ने स्वयं 'विशाख (प्र० सं०) की भूमिका में किया है "इतिहास का अनुशीलन किसी भी गति का अपना आदर्श संगठित करने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उस से बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इस में पूर्ण संदेह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया।" प्रसाद जी ने विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस नाटक को आधार बना कर भी अपने नाटक चन्द्रगुप्त में अनेक परिवर्तन किए हैं क्योंकि प्रसाद का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीयता का प्रचार करना था। इसलिए उन्होंने अपने नाटक में घटनाओं को उसी के अनुरूप ढाला है। चन्द्रगुप्त का चाणक्य यद्यपि कूटनीति में मुद्राराक्षस के चाणक्य के समतुल्य नहीं है। परन्तु वह राष्ट्रीय भावना से ओत–प्रोत महान उद्देश्य वाला व्यक्ति है जब कि 'मुद्राराक्षस' का चाणक्य महान कूटनीतिज्ञ निसपृह संन्यासी ब्राह्मण है।

2.3 चन्द्रगुप्त नाटक का घटनाकाल

भारत में सिकंदर का आक्रमण सन् 326–25 ई॰ पूर्व में हुआ था । प्रसाद जी ने माना है कि उस से सन् 326 ई० पूर्व में तक्षशिला में वह चन्द्रगुप्त से मिला था । इसलिए उस का निष्कासन सन् 328 ई॰ पूर्व माना जा सकता है । इसके चार वर्ष बाद अर्थात् सन् 321 ई॰ पूर्व में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण सिद्ध किया है और सन् 297 ई॰ पूर्व तक उस ने राज्य किया । इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने 24 वर्ष तक राज्य किया है। इतिहास की छानबीन के आधार पर प्रसाद जी ने स्थिर किया है कि सिल्यूक्स के साथ चन्द्रगुप्त की संधि सन् 305 ई॰ पूर्व में हुई। इस प्रकार नाटक की कथावस्तु सन् 327–26 ई॰ पूर्व से लेकर सन 305 ई॰ पूर्व तक ही घटनाओं को समेट कर चलती है। स्मिथ महोदय ने भी यह स्वीकार किया है कि सिकन्दर की मृत्यु 323 ई॰ पूर्व हुई और सिकन्दर के द्वारा जीते गये प्रदेशों में विद्रोह खड़ा करने वाला नेता चन्द्रगुप्त ही था। मुद्राराक्षस, महावंश टीका, जैन परिशिष्ट पर्वत आदि ग्रंथों में भी चन्द्रगुप्त मौर्य तथा नरवंश के अंतिम राजा के साथ चलने वाले संघर्ष का उल्लेख मिलता है।

2.4 'चन्द्रगुप्त' नाटक का कुल शील निर्धारण एवं ऐतिहासिकता

प्रसाद जी ने इस नाटक की भूमिका में सब से अधिक शोधपूर्ण सामग्री दी है। सिकन्दर के आक्रमण, नंदवंश के विनाश और सिल्यूक्स के पराभव से संबधित समस्या को इस नाटक में नाटक रूप प्रदान किया गया है। श्री मिश्र आदि पाश्चात्य इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त मौर्य को मुरा नामक दासी या शूद्रा का पुत्र बताया है और लिखा है कि वह दासी मगध के राजा महानंद की रानी थी। अतएव चन्द्रगुप्त मगध का राजकुमार था और मुरा के नाम पर इसे मौर्य कहते थे। जैन ग्रन्थों में इसे एक नाई द्वारा वेश्या से उत्पन्न

माना गया है और पुराणों मे इसे शुद्रा से पैदा माना गया है। कथा सतिसर में यह लिखा है कि चन्द्रगुप्त राजा नंद का ही पुत्र था और उस के अन्य कोई संतान नहीं थी । प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ 'महावंश के अनुसार चन्द्रगुप्त पिपलीवन के मोरिया गण का कुमार था । परन्तु प्रसाद जी ने इन सब का सतर्क निराकरण करते हुए बताया है कि इस भ्रांति के सम्भवतः दो कारण रहे हैं। या तो यूनानी लेखक जानबूझ कर मिथ्या प्रचार कर गये अथवा शुद्र जन्मा नन्द की जनश्रुति को चन्द्रगुप्त पर लाद दिया गया।

वस्तुतः चन्द्रगुप्त शुद्ध क्षत्रिय था । ये मौर्य क्षत्रिय वर्तमान गोरखपुर के पूर्वोत्तर में पिप्पली कानन के शासक थे । यहाँ इन का प्रजातांत्रिक राज्य था और वैदिक क्रियाओं के लोप होने से तथा बौद्धों के संसर्ग से इन्हें वृषलत्व प्राप्त हो गया था, किन्तु वृषलत्व शूद्रता नहीं होती । उन्होंने यज्ञादि कर्मों को त्याग दिया था बाद में यह पिप्पली कानन का प्रजातांत्रिक भू भाग भी नन्द के मगध साम्राज्य में मिल गया था। चन्द्रगुप्त यहीं के किसी मौर्य सरदार का महत्वाकांक्षी युवक पुत्र था । प्रसाद ने इस धारणा का समर्थन नाटक में भी किया है जबकि चाणक्य के मुँह से पर्वतेश्वर के सम्मुख स्पष्ट घोषणा कराई है कि 'आर्य क्रियाओं के लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला है, वस्तुतः यह क्षत्रिय हैं।' अतएव मुरा नाम की दासी का नापति कन्या से चन्द्रगुप्त की उत्पति मानना भ्रम है।

2.5 नाटक की ऐतिहासिकता

प्रसाद जी ने अर्न्तकथा, सरित्सागर और स्वविरावली आदि के आधार पर चन्द्रगुप्त के बाल्यकाल से सम्बन्धित सामग्री एकत्रित की है। पाटलिपुत्र के नगर – प्रांत में पिप्पली कानन के मौर्य सेनापति के घर चन्द्र गुप्त का जन्म हुआ । यद्यपि चन्द्रगुप्त बड़ा निर्भीक, साहसी और मेधावी था । बचपन में वही राज्याश्रय में रहा और राजसभा में बंद पिंजेड़े में से मोम के एक सिंह को तप्त लौह शलाखा से गलाकर बाहर निकाल कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया । किन्तु नन्द के अत्याचारी शासन होने से चन्द्रगुप्त पश्चिमोत्तर सीमा पर चले गये। चन्द्रगुप्त ने 25 वर्ष की आयु में उसके समय में सीमांत प्रदेश की जातियों का संगठन करके सिकंदर की मृत्यु के पश्चात् पंजाब पर अपना अधिकार कर लिया था और इसे सलाह देने वाले थे चाणक्य जिसे कौटिल्य या विष्णुगुप्त कहा जाता है। सन 321 ई॰ पूर्व में चन्द्रगुप्त ने पार्तत्य राजाओं के सहयोग से मगध के राजा को भी घेरा । मगध में नंद के अत्याचारों से प्रजा और राज्य की व्यवस्था शोचनीय थी। पन्द्रह दिन के खण्ड युद्धों में विजयी होते हुए चन्द्रगुप्त ने सिहांसन को अपने अधिकार में लिया । इसके पश्चात् नंद को चाणक्य ने बड़ी कुशलता से मरवा डाला उधर सिकंदर की मृत्यु के उपरांत अन्तः कलह के पश्चात् सिल्यूकस बैवीलान की गद्दी पर बैठा। यह अपने घरेलू झगड़ों में से निपटकर भारत के उस प्रदेश की ओर दृष्टि डालने लगा जिसे सिकंदर जीत चुका था किन्तु अब वह चन्द्रगुप्त के अधिकार में था । सिंधु तट पर उस का चन्द्रगुप्त से युद्ध हुआ और इस में सिल्युक्स पराजित हो गया । इस से चन्द्रगुप्त को अफगानिस्तान और मकराना भी मिल गया तथा पंजाब और सौराष्ट्र पर उस की सत्ता स्वीकृत हो गई । सिल्यूकस की लड़की एथिना का

विवाह चन्द्रगुप्त से हो गया और मेगास्थनीज नामक दूत वहाँ रहने लगा। इस के उपलक्ष्य में चन्द्र गुप्त ने उसे 500 हाथियों की गजसेना दी जिस की सहायता से चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा हिन्दुकुश पर्वत तक पंहुच गई थी । जस्टिन तथा डा. एस. कृष्ण स्वामी आयंगर ने चन्द्रगुप्त की दक्षिण विजय भी स्वीकार की हैं। मैसूर से प्राप्त कुछ शिलालेखों के अनुसार उत्तरी मैसूर में भी चन्द्रगुप्त का शासन था । इसी कारण कथा इतिहासकार स्मिथ ने भी चन्द्रगुप्त मौर्य की उपलब्धियों का वर्णन करते हुए लिखा है कि उस ने सिकंदर द्वारा जीते हुए भारत के समस्त प्रदेशों को स्वतंत्रता प्रदान की, सिल्यूक्स को हराया, बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक साम्राज्य स्थापित किया एक विशाल सेना तैयार की और एक विशाल साम्राज्य का शासन सुव्यवस्थित ढंग से किया। चन्द्र गुप्त ने 28 वर्षों तक राज्य किया । वह एक कुशल और उदार सम्राट था उस के समय में भारत ने अच्छी उन्नति और ख्याति प्राप्त की।

2.6 अन्य पात्रों घटनाओं की ऐतिहासिकता

पात्रों की दृष्टि से कुछ काल्पनिक पात्रों को छोड़ कर शेष सभी ऐतिहासिक हैं। चन्द्रगुप्त से सम्बन्धित नन्द, चाणक्य, पर्वतेश्वर, अम्भीक, राक्षस वररुचि, शकटार आदि पात्रों की ऐतिहासिक सत्ता सत्य हैं। सिकन्दर, फिलिप्स, सिल्यूक्स, मेगास्थनीज आदि अभारतीय पात्र भी इतिहासानुमोदित हैं। सिल्यूक्स की कन्या का वर्णन और उस का चन्द्रगुप्त से विवाह इतिहास से सिद्ध होता है केवल नाम के विषय में मतभेद हैं। दण्डमिस नामक तपस्वी का भी इतिहास अनुमोदन करता है जिसे प्रसाद जी ने दाण्ड्यायन नाम से चित्रित किया है। नन्द की पुत्री होना भी इतिहासकारों को स्वीकृत है और कुछेक विचार से तो चन्द्रगुप्त का उस से विवाह भी हुआ जिस की संतान बिन्दुसार ही उतराधिकारी हुआ। चाणक्य को कुछ विद्वान दक्षिणदेशीय कोंकणस्थ ब्राह्माण मानते हैं और कुछ गोटल ग्रामवासी कुछ तक्षशिला निवासी और कुछ मागध । प्रसाद जी ने उसे मगध निवासी माना है। चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरू एवं परामर्शदाता आचार्य चाणक्य ने ही छः हजार श्लोको में "अर्थशास्त्र" का निर्माण किया था और उन्होंने अपने जीवन का अंतिम भाग प्राचीन आर्य मर्यादा के अनुसार तपोवन में व्यतीत किया था। चाणक्य के माध्यम से प्रसाद जी ने समरसता भावना का सजीव चित्रण किया है। इस के कौटिल्य चाणक्य, वात्स्यायन, द्रुमिल आदि नाम मिलते हैं। प्रसाद ने पुरूष पात्रों के अतिरिक्त स्त्री पात्रों की सृष्टि में मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। कार्नेलिया, कल्याणी, सुवासिनी, अलका, मालविका आदि सभी नारी पात्र प्रसाद की कल्पना का योग पाकर अमर हो गये हैं।

घटनाओं की दृष्टि से सिकन्दर का भारत पर आक्रमण अम्भीक का उस में सहयोग होना, पंचनद नरेश पर्वतेश्वर से सिकंदर का संघर्ष जिस में पर्वतेश्वर की हार के पश्चात् भी सिकंदर का उसकी वीरता से मुग्ध हो कर राज्य लौटा देना तथा अपने जीते हुए प्रदेशों का क्षत्रप नियुक्त करना, चन्द्रगुप्त से सिकन्दर की भेंट, लौटते समय मालव और क्षुद्रक आदि गणतंत्रों से सिकन्दर का संघर्ष, मगध से नन्दवंश का उन्मूलन और चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक, चन्द्र गुप्त के साथ सिल्यूक्स का युद्ध और उस में चन्द्रगुप्त की अत्याधिक घटनाएँ इतिहास सम्मत हैं। नंद के अत्याचारी शासन, शकटार और सेनापति मौर्य को कारागार में डालने का अनुमोदन

नी इतिहास पर आधारित है। सिकंदर के सेनापति फिलिप्स की मृत्यु, पर्वतेश्वर की मृत्यु–इन ऐतिहासिक घटनाओं में नाटककार ने सिकंदर की पराजय दिखाई है। यह बात तो इतिहास भी मानता है कि इस संघर्ष में सिकंदर को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। उस का प्रसिद्ध अश्व 'बूक फेलेसा' इस युद्ध में मरा और स्वंय सिकंदर बुरी तरह से घायल हो गया।

घटनाओं के परिवर्तन की दृष्टि से छोटी–छोटी घटनाओं के अतिरिक्त कुछ बड़ी घटनाओं में उलट–फेर हुआ है। सिकन्दर की मालव और क्षुद्रको से पराजय दिखाई गई है। फिलिप्स की मृत्यु, पर्वतेश्वर और कल्याणी की मृत्यु, नन्द की मृत्यु, राक्षस का ग्रीक शिविर में पहुँचना राक्षस और चाणक्य के मध्य सुवासिनी को लेकर द्वन्द्व आदि अनेक प्रांसगिक घटनाओं में पर्याप्त मोड दिया गया है।

वास्तव में प्रसाद ने भारतीय इतिहास के विराट फलक को साकार किया है। प्रसाद जी इतिहास को एक सतत प्रक्रिया के रूप में देखते थे। इतिहास या पुराण से सन्दर्भ लेने के पीछे उन की मंशा सिर्फ इतिहास का पुनर्लेखन या समकालीन प्रासगिकता नहीं थी । इतिहास अपने नये संदर्भों में सतत् गतिशील प्रतीत होता है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य चन्द्रगुप्त से कहता है – "मालव और मगध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पद दलित होंगे । दरअसल चाणक्य की यह चिता भी जो विदेशी साम्राज्यवादी ताकतों के हाथों, फूट की नीति के तहत बिखरती चली जा रही थी । प्रसाद जी इस बिखराव को ऐतिहासिक संदर्भ में प्रकट करते हुए उससे निकलने की प्ररेणा देते हैं। साक्ष्य बनता है चन्द्रगुप्त वह कहता है गुरुदेव विश्वास रखिए, यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आप के चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे। प्रसाद की इस चिंता और राष्ट्र को एकता की प्ररेणा देने के संकल्प को पुष्ट करते हुए सिंहरण जवाब में कहता है "मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है बल्कि समस्त आर्यावर्त है। प्रसाद जी की वर्तमान दृष्टि इतनी पैनी और सरोकारों से पूर्ण थी कि इतिहास के पृष्ठ इन्हीं परिस्थितियों के बीच से राष्ट्रीय एकता, राष्ट्र गौरव की गाथा कहते हुए जीवंत हो उठते थे और प्रसाद की कलम अपने अतीत को वर्तमान की प्रेरणा के लिए लिपिबद्ध होने लगती हैं। प्रसाद जी के शब्दों में 'साहित्यकार न तो इतिहासकार होता हैं और न धर्म शास्त्र प्रणेता इन दोनों का कर्तव्य स्वतंत्र है। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए उन में आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुखद दग्ध जगत और आनन्द पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।

2.7 सारांश

प्रसाद के सभी नाटक दुख दग्ध जगत के त्राण का स्वर हैं एवं इतिहास के प्रसंग इन से मुक्ति के लिए शाश्वत सत्य के रूप में उभरते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में भी इतिहास साहित्यक कल्पना शक्ति एवं उद्देश्य का औदात्य अभिव्यक्त हुआ है।

2.8 कठिन शब्द

1. अन्वेषण 2. प्रकांड 3. निसपृह 4. वृषलत्व
5. अनुनोदन 6. विलक्षण 7. प्रणेता

2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. चन्द्रगुप्त नाटक की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालिए।

2. ऐतिहासिक नाटकों के क्रम में प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक का स्थान निर्धारित कीजिए।

3. ऐतिहासिक नाटक लिखने के पीछे प्रसाद के मन्तव्य को स्पष्ट करें।

2.10 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. चन्द्रगुप्त – जयशंकर प्रसाद
2. प्रसाद के नाटक – सिद्धनाथ कुमार ।
3. प्रसाद का नाट्यक्रम – सत्येन्द्र तनेजा।
4. जयशंकर प्रसाद – रमेशचंद्र शाह
5. जयशंकर प्रसाद – आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी।

*****

'चन्द्रगुप्त' की रंगमचयीता

3.0 रूपरेखा

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3. चन्द्रगुप्त नाटक के अभिनय तत्व ने रंगमंच की दृष्टि से असुविधाएँ

3.3.1 विस्तृत कथानक

3.3.2 वर्जित और कठिन द्रश्य

3.3.3 लम्बे कथोपकथन

3.3.4 स्वगत कथन

3.3.5 पात्र संख्या

3.3.6 पात्रानुकूल भाषा का अभाव

3.3.7 दार्शनिक दुरूहता

3.3.8 संकलनत्रय की भावना

3.3.9 गीतों की योजना

3.4 चंद्रगुप्त नाटक की विशेषताएँ

3.5 सारांश

3.6 कठिन शब्द

3.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.8 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

3.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. रंगमंचीय दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का अवलोकन कर सकेंगे।

2. चन्द्रगुप्त नाटक के अभिनय तत्व में रंगमंच की दृष्टि से क्या असुविधाएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनकी जानकारी प्राप्त करेंगे।

3. चन्द्रगुप्त नाटक की विशेषताओं से अवगत होंगे।

3.2. प्रस्तावना

काव्य के दो भेद कहे गये हैं। श्रव्य और दृश्य। जो काव्य श्रवण द्वारा आनन्द प्रदान करता है उसे श्रव्य काव्य कहा जाता है और जो अभिनय के द्वारा आनन्द प्रदान करता है अथवा रंगमंच पर जिस का अभिनय देखकर आनन्द की उपलब्धि होती है उसे दृश्य काव्य कहा जाता है। परन्तु प्रसाद के मत से आजकल छपाई की सुविधा होने से जिस तरह श्रव्य काव्य को पाठ्य काव्य कहना न्याय संगत है, उसी तरह दृश्य काव्य को भी आजकल पाठ्य काव्य कहना ही अधिक तर्क संगत है, क्योंकि प्रत्येक दृश्य काव्य या नाटक आजकल जितना पढ़ा जाता है, उतना मंच पर खेला नहीं जाता है और रंगमंच पर अभिनय भी उसी नाटक का अधिक किया जाता है। जिसे पाठक पढ़ कर पहले उत्तम या योग्य घोषित करते हैं अथवा जिसे निर्देशक या अभिनेता भी पहले पढ़कर उस की रंगमंचीय संभवानओं को समझते हुए अभिनय के योग्य स्वीकार करते हैं। इतना अवश्य है कि कोई भी नाटक पठन मात्र से उतना आनन्द प्रदान नहीं करता जितना कि वह रंगमंच पर अभिनय के द्वारा प्रेक्षकों एवं सामाजिकों के हृदय में अदभुत आनन्द की सृष्टि करता है। डॉ॰ गोविन्द चातक ने भी अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि प्रसाद के नाटकों का कथन नाटकीय और रंगमंचीय क्षमताओं से परीपूर्ण है। उन के नाटकों में तीव्र गतिशील क्रिया व्यापार संघर्ष, दृश्यत्व, काव्य, रोमन वेशभूषा आदि अनेक तत्व विद्यमान हैं जो उन्हें अपूर्व मंचीय सिद्धि प्रदान करेगें। नई रंग दृष्टि से प्रसाद के नाटकों के मंचन की महत्वपूर्ण संभावनाएं बनती हैं। प्रसाद के नाटक किस रंगमंच और शैली के अनुरूप पड़ेंगे इस का निर्धारण उन के रूपबंध और स्थापत्य पर निर्भर करता है और यह प्रसन्नता की बात है कि अब रंगकर्मी उन के लिए उपयुक्त रंगशैली की खोज में निरत होते जा रहे हैं। वस्तुतः अधिकांश विद्वानों ने वर्तमान पारसी रंगमंच को ही ध्यान में रख कर प्रसाद के नाटकों पर विचार किया है। यह बात एकदम सत्य है कि पारसी रंगमंच की कुछ सीमाएँ थीं, उन सीमाओं के अन्तर्गत न तो प्रसाद के नाटकों का अभिनय उस रंगमंच पर संभव था और न उस के पास ऐसे कुशल एवं योग्य अभिनेता थे, जो अभिनय द्वारा अच्छा प्रभाव पैदा करने मे सफल हो सकें। इसी कारण प्रसाद ने डॉ॰ जगन्नाथ शर्मा से कहा था – मेरी रचनाएं नहीं नापी–तोली जानी चाहिए । मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं, जो राह चलते अभिनेता को एकत्र कर, कुछ पैसा जुटा कर चार परदे मंगनी मांग लेती हैं और दुअन्नी, अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोंमचे वाले, और दुकानदारों को बटोर कर जगह–जगह प्रसन्न करती फिरती हैं। 'उतररामचरित' 'शकुन्तला', और 'मुद्राराक्षस' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न कभी जनसाधारण में रसोद्रेक के कारण बन सकते हैं। उन की काव्य प्रदान शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरूचि सम्पन्न सामाजिक हो, और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाए तो नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं"। प्रसाद की इस मान्यता के आधार पर स्पष्ट है

कि प्रसाद के नाटकों का अभिनय जिस रंगमंच पर हो सकता था, वैसा रंगमंच न तो विकसित हुआ था, न सुशिक्षित एवं परिष्कृत बुद्धिवाले अभिनेता उस रंगमच पर कार्य करते थे। उस समय प्रायः प्रसाद के नाटकों की आलोचना तो सभी करते थे कि वह रंगमंच के अनूकूल नहीं लिखे गये और न उन में मंचीकरण की क्षमता है, परन्तु रंगमंच के विकास की ओर कोई ध्यान नहीं देता था, सब यही कहते थे कि प्रसाद को रंगमंच को ध्यान में रख कर नाटक लिखने चाहिए। इस का उत्तर स्वयं प्रसाद जी ने दिया था – रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएं। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है।" प्रसाद पर दूसरा आरोप यह लगाया जाता है कि उन्हें रंगमंच का ज्ञान नहीं था। इसलिए उन के नाटक साहित्य की दृष्टि से भले ही उच्च कोटि के हों परन्तु रंगमंच की दृष्टि से पूर्णतया असफल एवं अनुपयुक्त हैं। इस के लिए प्रसाद के निबंध ज्वलंत प्रमाण हैं जो प्रसाद के रंगमंच संबंधी गूढ़ एवं गंभीर विचारों के द्योतक हैं।

3.3. चन्दगुप्त नाटक के अभिनय तत्व में रंगमंच की दृष्टि से असुविधाएँ

चन्द्रगुप्त नाटक के अभिनय तत्व में रंगमंच की दृष्टि से आलोचकों को कई असुविधाएँ दृष्टिगोचर होती है –

3.3.1 विस्तृत कथानक

चन्दगुप्त नाटक का कथानक अत्यधिक विस्तृत एवं जटिल है। 25 वर्षों की कालावधि में सिकन्दर का आक्रमण, नंदवंश का उन्मूलन, सिल्यूकस का आक्रमण जैसी बड़ी–बड़ी एवं काफी अंतर के साथ घटित घटनाओं का चित्रण है जिसे एक ही स्टेज पर एक ही समय में दर्शक न तो देखकर स्मरण रख सकता है और न उन की ठीक से संगति बिठा सकते हैं । फिर अधिक घटनाओं के कारण कथानक में स्वतः ही जटिलता आ गई है। जिस से अभिनेताओं को भी असुविधा का सामना करना पडता है।

यद्यपि इस आरोप की असत्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु इस पर सोचा जा सकता है। बड़े और विस्तृत कथानक वाले नाटकों को कुशल निर्देशक अपने अनुसार काटकर संक्षिप्त कर लेते हैं। क्रिया व्यापार की तीव्रता में इस की बहुत सी घटनाएँ बहुत कम समय में घट सकती हैं। कुछ घटनाओं का सूच्य दिखाया जा सकता है। इस प्रकार कथानक का विस्तार नाटक की अभिनेयता में इतना बड़ा गतिरोध नहीं हैं। प्रमाण यह हैं कि चन्द्रगुप्त सफलता के साथ खेला भी गया हैं।

3.3.2 वर्जित और कठिन दृश्य

ऐसे दृश्य जो रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किये जा सकते, नाटक में वर्जित माने जाते हैं। उदाहरणार्थ – रति प्रसंग, मृत्यु, भयानक युद्ध, सेना, नदी, पर्वत आदि। 'चन्द्रगुप्त नाटक' में ऐसे दृश्यों की भरमार है। हत्याओं का आधिक्य, सेनाओं का परिचालन, गजों और रथों का प्रस्तुतीकरण, जुलूसों का प्रदर्शन आदि अनेक ऐसे दृश्य इस में दिखाए गये हैं जिन्हे रंगमंच पर दिखाया जाना संभव नही है।

यद्यपि यह आरोप भी सही है, किन्तु प्रेक्षक की सुविधा पर और अभिनेता एवं निर्देशक की कुशलता से यह कठिनाई सरलता से दूर हो सकती है और नितांत अनाम दृश्यों को भी सूच्य किया जा सकता है। संस्कृत के नाटककारों ने भी इस प्रकार के आयोजन रखे हैं और शेक्सपीयर के नाटकों में इन दृश्यों की पर्याप्त अधिकता है, किन्तु उन्हें सफलता के साथ खेला जा सकता है।

3.3.3 लम्बे कथोपकथन

नाटक में संवादों के बड़े होने से दो तरह की असुविधा होती हैं, एक तो अभिनेता को उन्हें स्मरण रखने में असुविधा होती है, दूसरी कठिनाई दर्शकों की है। लम्बे भाषण जैसे संवादों में दर्शक तारतम्य नहीं बिठा पाता मन्तव्य स्पष्ट नहीं होता वह उबने लगता है। चाणक्य भाषण देने से चूकता ही नहीं और मालव की युद्ध परिषद में दिया गया चन्द्रगुप्त का लम्बा भाषण तो दर्शकों को निश्चित ही उबा देगा।

इस के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि 'चन्द्रगुप्त' में लम्बे कथोपकथन अधिक नहीं हैं, जो हैं उन को कम छोटा किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रसाद की भाषा में एक अजीब आकर्षण है। उन के लम्बे कथोपकथनों में भी सारगर्भिता और औतसुक्य छिपा रहता है जिस के फलस्वरूप उन की लम्बाई स्वतः ही टूटती जाती है।

3.3.4 स्वगत कथन

आधुनिक युग के नाटकों में स्वगत कथन को अच्छा नहीं माना जाता। प्रसाद के अन्य नाटकों में यह दोष अधिक है। चन्द्रगुप्त में इस का पर्याप्त परिमार्जन किया गया है किन्तु फिर भी कुछ आ ही गया है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त और शकटार के लम्बे–लम्बे स्वगत कथन इसी श्रेणी के हैं। इस के साथ ही दर्शकों को यह और भी बुरा लगता है जब अन्य पात्र की उपस्थिति में कोई पात्र स्वगत कथन करता है। अलका का पर्वतेश्वर के सम्मुख और नंद का राजदरबार में स्वगत कथन इसी कोटि के हैं।

जहाँ तक चाणक्य, चन्द्रगुप्त और शकटार के एकांकी कथनों का प्रश्न है उन्हें संगत ठहराया जा सकता है। कुशल अभिनेता नाटकीयता के साथ उन्हें दर्शकों के सम्मुख रख कर प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। दूसरी कोटि के स्वगत कथनों को मात्र संकेतों द्वारा दर्शकों को समझाये जाने पर भी प्रभाव छोड़ा जा सकता है।

3.3.5 पात्र संख्या

चन्द्रगुप्त में 20 से अधिक पुरूष और स्त्री पात्र हैं। इस संबंध में कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त नाटक में ऐतिहासिक पात्रों को छोड़ा नहीं जा सकता, साथ ही नाटक को सरस बनाने के लिए काल्पनिक पात्रों की सृष्टि भी आवश्यक होती है। इस समस्या को भी कुशल निर्देशक एवं अभिनेता अपनी योग्यता से सुलझा सकता है।

3.3.6 पात्रानुकूल भाषा का अभाव

नाटक में पात्रानुकूल भाषा का होना जरूरी है अन्यथा दर्शक को उस में कृत्रिमता और बनावट की गंध आयेगी। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के सभी पात्र परिनिष्ठत कलिष्ट हिन्दी भाषा का प्रयोग करते हैं। जिन्हें देखकर सहृदय आश्चर्य में पड़ सकता है। विदेशी पात्र एक ऐसी सुगठित और सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग करें यह बात दर्शकों के लिए विस्मयकारिणी होती है। इसके अतिरिक्त भाषा की क्लिष्टता से रसनाभूति में भी बाधा पड़ती है। इस संबंध में यह कहना यथेष्ठ होगा कि प्रसाद जी को अपने नाटकों को भाषा का अजायब घर बनाना पसंद नहीं था । भाषा के खिचड़ीपन से साहित्य का अपकार होता है, दर्शकों का मनोरंजन भले हो जाए इसलिए इन्होंने एक सी भाषा को स्थान दिया है। क्लिष्टता के संबंध में एक बात यह भी है कि प्रसाद के नाटक भारत के प्राचीन इतिहास गौरव को सामने रखते हैं और इसके लिए आज की चलती हिन्दी कोई अच्छा प्रभाव पैदा नहीं कर सकती है, साथ ही उन्होंने स्वयं स्वीकारा है कि उन के नाटकों के दर्शक परिष्कृत मस्तिष्क और सुसंस्कृत होने चाहिए।

3.3.7 दार्शनिक दुरूहता

चन्द्रगुप्त के सभी पात्र दार्शनिक बोझिलता से लदे हुए जान पड़ते है। सामान्य बुद्धि का दर्शक उन्हें कुछ भी समझ पाने में असमर्थ सिद्ध होता है। वह जब तक इस दर्शन की गुत्थी को सुलझाये, कथा आगे बढ़ जाती है।

इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि सामन्य बुद्धि स्तर के व्यक्ति के लिए नाटक लिखे ही नहीं। साथ ही उस का दार्शनिक अध्ययन और नाटकों की वस्तुगत दार्शनिक पीठिका इसके लिए पर्याप्त उत्तरदायी है। फिर प्रसाद ने गंभीर दर्शन को बड़े मधुर एवं मनोरम शब्दों में व्यक्त किया है। जिस के कारण दर्शन को पूरी गम्भीरता से न समझ पाने के पश्चात् आधारभूत बातों की जानकारी हो जाती है।

3.3.8 संकलनत्रय की भावना

पाश्चात्य नाट्य शास्त्रियों ने नाटक में संकलनत्रय समय को एक्य, स्थान के एक्य एवं वस्तु के एक्य को बहुत महत्व दिया है। इसके बिना कार्य की एकाग्रता उत्पन्न नहीं होती और अस्वाभाविकता का समावेश हो जाता है । चन्द्रगुप्त में तीनों का ही उल्लंघन है। समय 25 बर्ष लम्बा है। स्थानों में पूर्व से लेकर उत्तर पश्चिम तक का विशाल भूखण्ड इस में प्रदर्शित है। वस्तु का आधिक्य तो स्पष्ट है। इस प्रकार नाटक में संकलनत्रय का उल्लंघन इस संबंध में स्मरणीय है कि संकलनत्रय के नियम को स्वयं पाश्चात्य नाटककारों ने तोड़ा है। साथ ही चन्द्रगुप्त जैसे साधारण युवक का भारत जैसे विशाल राष्ट्र का अधिपति बनना सरल नहीं था। भारत के प्रथम व्यवस्थित सम्राट को अनेक सघर्षों के बाद यह सौभाग्य मिला था । स्वभावतः उस में समय, स्थान और वस्तु के संकलन का अनुशासन नही माना जा सकता था परन्तु इस से नाटक में कोई गतिरोध भी पैदा नहीं होता।

3.3.9 गीतों की योजना

नाटक में गीतों की योजना की स्वीकृति होती है। किन्तु चन्द्रगुप्त में पर्याप्त समयानुकूलता होने पर भी उस के गीत कुछ लम्बे हैं, साथ ही सँख्या में अधिक हैं। यदि एक–एक गीत पाँच–पाँच छः–छः मिण्ट भी ले तो दो घण्टे केवल गीतों मे ही निकल जाएंगे।

इस संबध में सफल निर्देशक कुछ गीतों को नितांत छोड़कर तथा कुछ के अशों को कम करके यथासंभव परिवर्तन कर सकता है।

3.4 चन्द्रगुप्त नाटक की विशेषताएँ

इसके साथ ही 'चन्द्रगुप्त' में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिसके कारण वह रंगमंच पर और अधिक निखर उठता है। ये विशेषताएँ हैं

1. क्रिया व्यापार की वेगमयता ।
2. रोचक एवं नाटकीय आदि अंत
3. विविध दृश्यों की रोचकता
4. सरस गान योजना।
5. रस योजना
6. भाषा का माधुर्य।
7. प्रभावान्विति।

3.5 सारांश

अतः स्पष्ट है कि प्रसाद का नाटक 'चन्द्रगुप्त' एक सफल अभिनेय रचना है।

3.6 कठिन शब्द

1. अभिनीत 2. परिष्कृत 3. रसोद्रेक 4. परिचालन 5. परिमार्जन

6. क्लिष्टता 7. अधिपति 8. सारगर्भिता 9. मन्तव्य 10. तारतम्य

3.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रंगमंचीय दृष्टि से प्रसाद के नाटकों पर प्रकाश डालिए?

2. चन्द्रगुप्त नाटक के अभिनेय तत्त्व में रंगमंच की दृष्टि से आलोचको को क्या असुविधाएँ दृष्टिगोचर हुई हैं ? स्पष्ट करें।

3. चन्द्रगुप्त नाटक की विशेषताएँ बताएँ ?

3.8 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. जयशंकर प्रसाद – आचार्य नंददुलारे वाजपेयी।
2. चन्द्रगुप्त – जयशंकर प्रसाद
3. प्रसाद का नाटयकर्म – सत्येन्द्र तनेजा
4. प्रसाद का नाटक – सिद्धनाथ तनेजा
5. जयशंकर प्रसाद – रमेशचन्द्र शाह

....

'चन्द्रगुप्त' की नाट्य कला

4.0 रूपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 चन्द्रगुप्त की नाट्य कला

4.4. सारांश

4.5 कठिन शब्द

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.7. सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

4.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. प्रसाद के नाटकों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
2. चन्द्रगुप्त नाटक की रचना के उद्देश्यों को जान सकेंगे।
3. चन्द्रगुप्त नाटक की विशेषताओं से अवगत होंगे।
4. चन्द्रगुप्त नाटक की नाट्य कला की जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.2 प्रस्तावना

प्रसाद एक मौलिक प्रतिभा सम्पन्न नाटककार थे। उन्होंने कुल मिलाकर चौदह (14) नाटकों की रचना की है। जिस में से 12 नाटक ऐतिहासिक हैं और शेष दो नाटक सामाजिक एवं काल्पनिक हैं। बारह नाटकों में से चन्द्रगुप्त नाटक उनकी प्रौढ़ कृति है। नाटकों के निर्माण में प्रसाद का भारतीय इतिहास की ओर अधिक झुकाव होने का प्रमुख कारण यह जान पड़ता है कि उन्हें अपनी युगीन समस्याओं के समाधान अन्यत्र कुछ और दिखाई नहीं देता था और वह समस्याओं के समाधान हेतु ऐसे पुष्ट उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते थे जिनका संबंध हमारे अतीत से हो और जो भारतीय जन जीवन के अत्यंत निकट होने के कारण सुगमता

से हमारी प्रेरणा के स्रोत बन सकें । इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने स्वयं उल्लेख किया है कि मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है और जिन पर वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है।

4.3 चन्द्रगुप्त की नाट्य कला

प्रसाद की नाट्यकला का शुभारम्भ 'सज्जन' 'प्रायश्चित' जैसे छोटे छोटे एकांकियों से हुआ है। धीरे–धीरे उन की नाट्यकला विकसित होती चली गई है और 'ध्रुवस्वामिनी' चरम तक पहुँचते–पहुँचते प्रसाद की नाट्यकला चरमोत्कर्ष तक पहुँच जाती है। प्रसाद की नाट्यकला को सुविधा की दृष्टि से पाँच (5) सोपानों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथम सोपान	(1) सज्जन (1910–11)	(2) कल्याणी परिणय (1912)
	(3) करूणालय (1912)	(4) प्रायश्चित (1914)
दूसरा सोपान –	(5) राज्यश्री (1915)	(6) विशाख (1921)
तीसरा सोपान –	(7) अजातशत्रु (1922)	(8) कामना 1923–24
	(9) जनमेजय का नागयज्ञ (1926)	
चौथा सोपान –	(10) स्कंदगुप्त (1928)	(11) एक घूंट (1930)
	(12) चन्द्रगुप्त (1931)	
पाँचवा सोपान –	(13) ध्रुवस्वामिनी (1933)	
	(14) अग्निमित्र अपूर्ण (1935)	

चन्द्रगुप्त (1931) नाटक संपूर्ण नाटकों में सब से अधिक विस्तृत एवं प्रौढ कृति है। डॉ॰ दशरथ ओझा का मत है 'प्रसाद जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक निर्माण में तल्लीन हुए थे, उस का चरम उत्कर्ष 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रकट होता है। इस में उन की ऐतिहासिक शक्ति जितनी प्रस्फुटित हुई है, उतनी ही उन की काव्य प्रतिभा भी प्रखर हो उठी है। डा॰ धनंजय का मत है कि 'चन्द्रगुप्त' प्रसाद का अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक सुगठित, ऐतिहासिक वातावरण – सम्पन्न नाटक है'। इस प्रकार इस नाटक के बारे में भिन्न–भिन्न विद्वानों के भिन्न मत मिलते हैं। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी का मत है "चन्द्रगुप्त में महाकाव्य का औदात्य अधिक है नाटक का संघर्ष कमाउन के नायक चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त परिस्थितियों से ऊपर उठे हुए हैं जिस से संघर्ष का पूरा विकास नही हो पाया है।" इन कतिपय रचनात्मक असंगितयों एवं विकृतियों के रहते हुए भी 'चन्द्रगुप्त' नाटक में कितनी ही ऐसी उल्लेखनीय विशेषताएँ विद्यमान हैं जो नाटककार प्रसाद की ऐतिहासिक सूझबूझ, कल्पना एवं प्रतिभा की द्योतक हैं।

इस नाटक की रचना से पूर्व प्रायः सभी देशी–विदेशी साहित्यकारों एवं इतिहासकारों ने यही माना कि चन्द्रगुप्त मुरा नामक नाइन से उत्पन्न नन्द का ही पुत्र था । प्रसाद ने इस मिथ्या धारणा को ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पूर्णत्या भ्रामक सिद्ध कर के बताया कि मौर्य जाति के लोग पिप्पलीकानन में एक छोटे

से गणराज्य में शासन के ये क्षत्रिय थे और राजस्थान की जवार राजपूत शाखा से इन का संबंध था। बौद्धों के प्रभाव में आने के कारण इन के वैदिक संस्कारों एवं आर्य क्रियाओं का लोप हो गया था और इन्हें वृषलत्व मिला था। अतः इसी मौर्य वंश में उत्पन्न चन्द्र गुप्त मौर्य पूर्णतः क्षत्रियकुलोद्भव था और शूद्रा से उत्पन्न निम्न जाति का नही था।

दूसरे यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि चन्द्रगुप्त को राज–कोप के कारण पाटलिपुत्र छोड़ना पड़ा था। चाणक्य की भेंट सिकंदर के आक्रमण से पूर्व ही हुई थी। प्रसाद ने इन तथ्यों को पूर्णता तर्क सम्मत एवं नाट्योचित रूप देने के लिए चाणक्य को भी मगधवासी ठहराया है। चन्द्रगुप्त को तक्षशिला का छात्र बनाया है और चाणक्य को वहाँ का आचार्य बनाकर दोनों की भेंट करायी है। अन्य सारे भेट संबंधी विवरणों को छोड़ कर प्रसाद ने ऐसी योजना कर के नाट्यवस्तु को अत्यंत रोचकता एवं मार्मिकता प्रदान की है।

तीसरे, यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि ग्रीक कर्मचारी और तक्षशिला के कुचक्र से फिलिप्स के द्वारा पर्वतेश्वर की हत्या हुई थी परन्तु प्रसाद ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी पर्वतेश्वर की हत्या नंद की पुत्री कल्याणी से करायी है क्योंकि पर्वतेश्वर कल्याणी के साथ बलात्कार करना चाहता था और उसे अपनी प्रेयसी बनाकर चन्द्रगुप्त से आधा मगध राज्य भी हड़पना चाहता था। प्रसाद ने 'एक पंथ दो काज' सिद्ध करते हुए कामुक पर्वतेश्वर की हत्या कल्याणी से कराके और कल्याणी के द्वारा आत्महत्या कराके चन्द्रगुप्त के मार्ग में रोड़ों को हटाया है। चौथे प्रसाद ने कूट राजनीतिज्ञ प्रखर प्रतिभा सम्पन्न और हठी चाणक्य के परम्परागत रूप में परिवर्तन करके उसे श्रेय के लिए सर्वस्व त्याग करने वाला राग द्वेष सुख–दुख मान, अपमान, अपना पराया आदि में पूर्ण समरस रहने वाला महान वैरागी, तपस्वी, सहृदय दूरदर्शी एवं सात्विक ब्रह्म तेज सम्पन्न उच्च कोटि का ब्राह्मण अंकित किया है।

प्रसाद ने चन्द्र गुप्त नाटक की रचना दो उद्देश्यों से की है। पहला उद्देश्य तो दो–दो यूनानी आक्रमणों से भारत की सुरक्षा करते हुए मौर्य राज्य की स्थापना करता है और दूसरा उद्देश्य है राष्ट्रीय जागरण की भावना से बलवती बनाकर पराधीन भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराना। प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा युगीन समस्याओं का समाधान करने के लिए उन्हीं ऐतिहासिक कथानकों को चुना जो भारत के लिए आदर्श बन कर रह सकें। चन्द्रगुप्त, अलका, सिंहरण चाणक्य आदि से प्रेरित होकर नंद जैसे क्रूरता और दुष्टता से परिपूर्ण ब्रिटिश शासन को उलटकर स्वतंत्र भारत का निर्माण कर सकें। प्रसाद ने अपनी इसी राष्ट्रीय भावना एवं संघर्षशील भारत की दारूण परिस्थितियों का चित्रण करने के लिए तत्कालीन भारत को भी विविध प्रदेशों में विभक्त दिखाया है, वैयक्तिक स्वार्थों में जर्जर दिखाया है परन्तु प्रसाद ने उन दारूण परिस्थितियों को पूर्णतया समाप्त कर के राष्ट्र में सुख और शान्ति के साथ स्वतंत्रता लाने में सर्वत्यागी राष्ट्रभक्त एवं स्वतंत्रता प्रेमी वीरों का चित्रण किया है जो आत्म सम्मान के लिए मर मिटना दिव्य जीवन मानते हैं। ऐसे ही प्रसाद ने नाटक में ऐसी वीरांगनाओं का भी चित्रण किया जो अलका की तरह अपने देशद्रोही भाई का भी विरोध कर के राष्ट्रीय जन जागरण का कार्य सुचारू रूप से करती हैं। कल्याणी स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भाग लेकर राष्ट्र हित

मे अपना जीवन उत्सर्ग कर देती है। सुवासिनी विविध पुरूषों के संपर्क में आकर भी अपने स्त्रीत्व की रक्षा करती हुई शत्रु के शिविर में जाकर राष्ट्रीय कार्य का सम्पादन सुचारू रूप से करती है । इसी कारण चन्द्रगुप्त को राष्ट्रीय जागरण का संदेश देने वाला महत्वपूर्ण नाटक कह सकते हैं।

प्रसाद जी ने अपने नाटक चन्द्रगुप्त में अपने दार्शनिक सिद्धांत आनन्दवाद की महत्वपूर्ण व्याख्या की है। चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य के माध्यम से प्रसाद ने अपनी इसी समरसता की भावना का चित्रण किया है। तभी तो वह ब्राह्मण दैवी एवं मानवीय प्रकोपों से तनिक भी विचलित नहीं होता । कष्ट एवं विपत्ति के क्षणों में भी विचलित नही होता है। संघर्षशील परिस्थितियो एव अशात वातावरण मे भी पूर्ण सजग एव सचेत दिखाई देता है। शत्रुता एवं तिरस्कार करने वालो के प्रति भी प्रेम, क्षमा एवं दया की उदात्त भावना से परिपूर्ण बना रहता है। इसी समरसता के कारण वह विशाल सम्राज्य की स्थापना के स्वप्न को साकार करता है । अपनी इसी कल्याण कामना के साथ सब कुछ प्राप्त करके भी चन्द्रगुप्त को मेघ मुक्त चन्द्र की तरह निष्कंटक सम्राट बना कर रंगमंच से हट जाता है और इसी वैरागय मे अखंड आनंद का अनुभव करता है। यही है प्रसाद के आनन्दवादी जीवन दर्शन की व्यावहारिक व्याख्या जो चाणक्य के द्वारा इस नाटक में प्रस्तुत की है।

प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक में चरित्र सृष्टि को अत्यंत मनोयोगपूर्वक बडी कुशलता एवं कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, पर्वतेश्वर, नन्द, अम्भीक, राक्षस, सिकंदर सिल्यूकस, दांड्यायन आदि ऐसे ऐतिहासिक पात्र हैं जिन के विषय में इतिहास से प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। परन्तु प्रसाद ने उस सामग्री का उचित उपयोग करके उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को ऐसा मानवीय रूप देने का प्रयास किया है जिससे उनकी ऐतिहासिकता अक्षुण्ण बनी रही है। नाटक में सम्पूर्ण घटनाओं के केन्द्र में दो पात्र हैं चन्द्रगुप्त और चाणक्य । परन्तु कुछ विद्वानों का विचार है कि चाणक्य के चरित्र को इतना अधिक बढ़ा – चढ़ा कर रखा गया है जिस से चन्द्रगुप्त की महत्ता व्यंजित नही हुई है। परन्तु गौर से देखा जाए तो मालूम होगा कि अभी तक जितने भी 'चन्द्रगुप्त' इस से पूर्व लिखे गए थे, उन सभी से भिन्न यहाँ चन्द्रगुप्त के स्वतंत्र अस्तित्व की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। इसी कारण आरम्भ में ही चन्द्रगुप्त चाणक्य की आशंका का उत्तर देता हुआ स्पष्ट कहता है – "गुरुदेव विश्वास रखिए, यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आप के चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ नहीं कर सकेंगे"। चन्द्रगुप्त इसी आत्म विश्वास के साथ यह कर्मठ वीर कर्म क्षेत्र में पदार्पण करता है और आत्मसम्मान पर मिटना ही दिव्य जीवन मानता है। अपनी वीरता के कारण ही सिकन्दर के शिविर मे से सुरक्षित निकल आता है अपनी वीरता के कारण ही क्षुद्रक एवं मालवों का सेनापत्ति बनकर सिकन्दर को भारत से लौटने पर विवश करता है। अपनी शक्ति के बलबूते पर ही वह शटकार स्पष्ट कहता है – "मैं उन सब पीडित, आघात–जर्जर पददलित लोगो का सरक्षक हूँ, जो मगद की प्रजा है।" यह ठीक है कि चाणक्य और सिंहरण की शक्ति ने भी उसे पूरी–पूरी सहायता दी है परन्तु चन्द्रगुप्त मे अपना शौर्य पराक्रम, रणकौशल, प्रतिभा सब कुछ है जिस के कारण दांड्यायन, सिकंदर, सिल्युकस, शकटार, पर्वतेश्वर, चाणक्य आदि सभी लोग उसी की प्रशंसा करते हैं। प्रसाद ने पुरूष पात्रों के अतिरिक्त स्त्री पात्रों की सृष्टि में मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद की स्वच्छंदतावादी मनोवृत्ति के साथ–साथ स्वानुभूति का चित्रण भी अत्यंत मार्मिक ढंग से हुआ है। इस स्वानुभूति में एक ओर तो प्रसार का दार्शनिक चिंतन मिला हुआ है और दूसरी ओर जीवन और जगत की अनुभूतियाँ मिली हुई हैं। दार्शनिक दृष्टि से प्रसाद की यह महत्वपूर्ण पंक्तियाँ "भूमा का सुख और उस की महत्ता का जिस को आभास मात्र हो जाता है, उस को यह नश्वर चमकीले प्रदर्शन अभिभूत नहीं कर सकते"। अथवा समस्त आलोक चैतन्य और प्राणशक्ति प्रभु की दी हुई है। मृत्यु के द्वारा वही इस को लौटा देता है जिस वस्तु को मनुष्य दे नहीं सकता, उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़कर दूसरा दम्भ नहीं या "वह किसी बलवान की इच्छा का क्रीड़ा कंदुक नहीं बन सकता"। ऐसे ही जीवन और जगत की अुनभूतियाँ प्रसाद की उन सूक्तियों में व्यक्त हुई हैं जिन का प्रयोग इस नाटक में सर्वाधिक मात्रा में हुआ है। जैसे – 'आत्म सम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है"।, 'राजनीति महलों में नहीं रहती' प्रमोद में मनुष्य कठोर सत्य का भी अनुभव नहीं करता' ब्राह्मणत्व एवं सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव है," पराधीनता से बढ़कर विडम्बना क्या है।" महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है" आदि।

चन्द्रगुप्त नाटक में गद्य का अदभुत चमत्कार विद्यमान है, जो प्रसाद की छायावादी कवित्व शैली के साथ–साथ गहन सौंदर्यानुभूति एंव विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है। जैसे – "अकस्मात जीवन कानन में एक राजा–रानी की छाया में छिपकर मधुर बसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी–भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल–कौन!" कहकर सब को रोकने टोकने लगता है। पुकारने लगता है। राज कुमारी! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है। आँसू भरी स्मृतियाँ मकरंद सी उस में छिपी रहती हैं।" ऐसे ही प्रसाद ने इस में तेरह गीतों की योजना की है। सभी गीत परिस्थिति की अनुकूलता के साथ – साथ पात्रों की मानसिक स्थितियों के परिचायक हैं। इस में दो गीत अरूण यह मधुमय देश हमारा और "हिमाद्रि तुंग शृंग" से किसी भी प्रकार कम महत्व नहीं रखते। इन गीतों में छायावादी अनूठी पद्धति का प्रयोग होने के कारण लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता उपचार वक्रता, ध्वन्यात्मकता एवं चित्रमयी भाषा के साथ–साथ नवीन अलंकारों की प्रचुरता विद्यमान है।

प्रसाद कृत चन्द्रगुप्त नाटक में आरम्भ से अंत तक सक्रियता भरी हुई है। कोई भी दृश्य शिथिल एवं निष्क्रिय नही है और कोई भी पात्र दीर्घसूत्री दिखाई नहीं देता। संवादों में भी रमणीयता है, संपूर्ण नाटक का क्रिया व्यापार इतनी तीव्रता से एवं विप्रता के साथ अंतिम फल की ओर अग्रसर होता चला गया है कि कहीं भी शैथिल्य नहीं आ सका है और प्रभावान्विति में भी कोई बाधा नहीं पड़ी है। सभी घटनाएं एक ही प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए क्रमशः घटित होती हुई एक ही अंतिम उद्देश्य के सागर में जा कर मिल जाती हैं। प्रसाद को अपने उद्देश्य चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की स्थापना में पूर्णतया सफलता प्राप्त हुई है।

4.4 सारांश

अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रसाद ने इस 'चन्द्रगुप्त' नाटक में ऐतिहासिक

परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत समसामयिक राष्ट्रीय चेतना को पकड़ने का प्रयास किया है। इसलिए प्रसाद ने इतिहास, दर्शन एवं काव्य का त्रिवेणी प्रवाहित करके 'चन्द्रगुप्त' नाटक को उत्कृष्ट नाट्य कला सम्पन्न प्रतिनिधि नाट्यकृति बनाया है।

4.5 कठिन शब्द

1. औदात्य 2. समरस 3. उत्सर्ग 4. निष्कंटक 5. अक्षुण्ण
6. व्यंजित 7. अभिभूत 8. शाश्वत 9. शैथिल्य 10. मकरंद

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. चन्द्रगुप्त नाटक की नाट्य कला पर प्रकाश डालिए?

2. प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक की रचना किन उद्देश्यों को लेकर की है, स्पष्ट करें ?

3. चन्द्रगुप्त नाटक की विशेषताएँ बताइए?

4.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. चन्द्रगुप्त – जयशंकर प्रसाद
2. प्रसाद का नाटयकर्म – सत्येन्द्र तनेजा
3. प्रसाद का नाटक – सिद्धनाथ तनेजा
4. जयशंकर प्रसाद – रमेशचन्द्र शाह
5. जयशंकर प्रसाद – रंगदृष्टि – महेश आनंद

....

'आधे–अधूरे' में तनाव और अलगाव

5.0 रूपरेखा
5.1 उद्देश्य
5.2 प्रस्तावना
5.3. 'आधे–अधूरे' में तनाव और अलगाव
    5.3.1 दाम्पत्य जीवन में तनाव और अलगाव
    5.3.2 पारिवारिक धरातल का तनाव और अलगाव
    5.3.3 व्यक्तिगत स्तर पर तनाव और अलगाव
5.4. सारांश
5.5 कठिन शब्द
5.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
5.7. सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

5.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. यह जान सकेंगे कि आधे–अधूरे नाटक क्रिया–प्रतिक्रियाओं, तनाव–अलगाव, स्वप्न – संघर्ष का नाटक है।
2. आधुनिक युग की तनावग्रस्त मानसिकता और अलगाव के अहसास से अवगत होंगे।
3. दाम्पत्य जीवन में व्याप्त तनाव और अलगाव से अवगत होंगे।
4. पारिवारिक एवं व्यक्तिगत स्तर पर व्याप्त तनाव एवं अलगाव को जान सकेंगे।

5.2. प्रस्तावना

तनाव और अलगाव मोटे तौर पर अस्तित्ववादी विचारधारा से अनुस्यूत खास अर्थ के परिभाषिक शब्द हैं, किन्तु मोहन राकेश के नाटकों में तनाव और अलगाव किसी अवधारणा से बँधे नहीं हैं। दरअसल,

समकालीन साहित्य में परिवेशगत दबाव, शहरी जीवन, व्यक्तिगत सपनों की खण्डित परिणति आदि से तनाव और अलगाव को स्थान मिला है। स्वतन्त्रता के पश्चात् बड़े व्यापक धरातल पर सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हुए। भय, संशय, अनास्था और स्वार्थपरकता के बीच आदमी, आदमी के लिए संदेह का कारण परिणामस्वरूप तनाव और अलगाव का कारण बनता गया। ऐसे में व्यक्ति के साथ–साथ परिवार और समाज इनसे ग्रस्त हुए। मोहन राकेश का सरोकार विशेष रूप से परिवार और उसमें रहने वाले व्यक्तियों से है अतः उनके नाटकों में व्यक्तिगत एवम् पारिवारिक तनाव और अलगाव मिलता है। दूसरे, उनकी दृष्टि स्त्री–पुरूष के परस्पर उलझन भरे रिश्तों पर अधिक टिकी है यही कारण है कि 'आधे–अधूरे' में पति–पत्नी के दाम्पत्य जीवन का खासा चित्रण हुआ है। स्त्री–पुरूष से जुड़ी होती है उनकी सन्तान, जाहिर है कि वह भी इस विडम्बना से बच नहीं पाती।

5.3 'आधे–अधूरे' में तनाव और अलगाव :

'आधे–अधूरे' नाटक क्रिया–प्रतिक्रियाओं, तनाव–अलगाव, स्वप्न–संघर्ष का नाटक है। यहाँ स्थितियों का चित्रण उतना नही है, जितना स्थितियों में उत्तेजित होते हुए पात्रों की झल्लाहट का, जिसका कोई अर्थ नहीं है। अपने अधूरेपन में सभी का व्यक्तित्व एक सा है कड़ुवाहट, विद्रोह, असंतोष से भरा हुआ। यहाँ तक कि सिंघानिया, जगमोहन, जुनेजा की उपस्थिति भी परिवार के सदस्यों की क्रिया–प्रतिक्रिया को उत्तेजित करती है। ऐसा लगता है आधुनिक युग की तनावग्रस्त मानसिकता और 'अलगाव' के अहसास को जताने के लिए नाटककार ने एक विशिष्ट प्रकार की एक जैसी लय अथवा पुनरुक्ति की योजना की है।

विवेच्य नाटक की पूरी अर्थवत्ता की पहचान के लिए उसे तीन धरातलों पर देखना जरूरी है। (1) स्त्री–पुरूष का दाम्पत्य जीवन में तनाव और अलगाव, (2) पारिवारिक धरातल पर तनाव–अलगाव और (3) व्यक्तिगत स्तर का तनाव–अलगाव। यों यदि देखा जाए तो इन तीनों बिंदुओं को पारिवारिक पहलू में ही समेटा जा सकता है। किन्तु अध्ययन की सुविधा हेतु इन बिन्दुओं की पहचान जरूरी है।

5.3.1 दाम्पत्य जीवन में तनाव और अलगाव :

आज़ादी के बाद एकाएक स्त्री की स्थिति में जबरदस्त बदलाव आया। स्त्री शिक्षा, आर्थिक स्वावलम्बन और घर से बाहर निकलने की आज़ादी ने उसमें नया आत्मविश्वास, अधिकार–चेतना को जन्म दिया लेकिन दूसरी तरफ पुरूष का सामन्ती अहंकार उसे समानाधिकार देने के पक्ष में नहीं था। पति उसकी कमाई पर पल तो सकता है लेकिन भीतर ही भीतर दफ्तर में उसके सम्बन्धों को लेकर कुण्ठित भी होता है। 'आधे–अधूरे' नाटक में सावित्री और महेन्द्रनाथ के माध्यम से ऐसे ही दम्पत्ति का चित्र खींचा गया है। दूसरा दम्पति जोड़ा है बिन्नी और मनोज का, जहाँ बिन्नी कमाती नहीं है, आर्थिक सुरक्षा है लेकिन मनोज का बिन्नी की माँ के प्रति विवाह–पूर्व का आकर्षण दोनों में कुण्ठा उत्पन्न करता है।

आधुनिक दाम्पत्य जीवन में सात जन्मों के संस्कार वाली बात झूठी पड़ चुकी है। पति और पत्नी के

पुराने आदर्श तहस–नहस हो गये हैं जिसके चलते आधुनिक स्त्री–पुरुष के परस्पर सम्बन्धों को समझना तथा उन्हें एक इकाई सूत्र में बांधना असम्भव सा हो गया है। दोनों का अधूरापन पूर्णत्व की खोज में और अधिक खण्डित होता जा रहा है। साथ रहकर भी दूरी का अनुभव करना, परिचित होकर भी अजनबीपन की पीड़ा से गुजरना और एक दूसरे को सहने के लिए विवश होना उनकी नियति बन गयी है। एक ओर स्वतन्त्र बने रहने की लालसा और दूसरी ओर एक साथ जूझते रहने की विवशता के बीच जिन्दगी घिसटती जाती है। अलग हुए पति–पत्नी का सामाजिक संदर्भ में कोई महत्व नहीं, परिणामस्वरूप एक–दूसरे को झेलना ही दाम्पत्य जीवन की विसंगति बन जाता है। साथ रहने किन्तु अलगाव बनाए रखने की कोशिश दोनों के बीच रिक्तता बनाए रखती है जिसे भरने का विफल प्रयास त्रासदीपूर्ण होता है। महेन्द्र–सावित्री पर यह चित्र पूरा उतरता है।

दोनों के जीवन में तनाव और अलगाव से परिपूर्ण विसंगति है। दोनों की टकराहट भरी स्थितियाँ दाम्पत्य जीवन की जटिलता को निरूपित करती हैं। सावित्री पति पर क्षुब्ध है उसके घरघुसरेपन और नकारेपन के कारण और परिवार की दरिद्रता के लिए उसे जिम्मेदार मानती है। पति की निष्क्रियता से तंग आकर उसे अशोक की नौकरी के लिए बॉस से हँसी–ठिठोली करनी पड़ती है। महेन्द्र उसके लिए 'सिर्फ दूसरों के खाली खाने भरने की चीज' मात्र है, जिसका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व और पहचान नहीं है। उसके इस व्यक्तित्व को निरूपित करने में उसके दोस्तों का हाथ है, ऐसा वह सोचती है। खीज भरी मुद्रा में दोस्तों पर आरोप लगाते हुए कहती है, 'महेन्द्र भी एक आदमी है, जिसका अपना एक घर–बार है, पत्नी है, यह बात महेन्द्र को अपना कहने वालों को शुरू से ही रास नहीं आई। इस प्रकार घर की आर्थिक स्थिति और महेन्द्र का ढुलमुल व्यक्तित्व दाम्पत्य तनाव का कारण बनता है। स्त्री, पति के अधूरेपन को पूरा करने की कोशिश में दूसरे पुरुषों की ओर आकर्षित होती है और यहीं से पति का तनाव जड़ें जमा लेता है। स्त्री द्वारा पूर्णता की खोज दाम्पत्य जीवन को विषैला बना देती है। लेकिन दोनों में से कोई पलायन नहीं करता। आधे – अधूरेपन से दूर हटकर पूरा होने का प्रयत्न बराबर हुआ है लेकिन प्रत्येक पूर्णत्व, अपूर्णत्व का और ज्यादा अहसास कराता जाता है। पुरुष को स्त्री की मित्रता पुरुषों से गवारा नहीं, इसीलिए वह व्यंग्यपूर्ण बाण छोड़ता है, 'अधिकार, रुतबा, इज्जत यह सब बाहर के लोगों से मिल सकता है इस घर को। इस घर का आज तक कुछ बना है या आगे बन सकता है, तो सिर्फ लोगों के भरोसे। पुरुष का विश्वास है कि स्त्री के प्रति आकृष्ट अधिकारी या अन्य पुरुष इस घर की भलाई की बजाय स्त्री के प्रति अधिक आकर्षित है, जिसकी प्रेरणा भी स्त्री स्वयं देती है। नतीजा यह कि दोनों आरोप–प्रत्यारोप लगाते हैं। दोनों के दाम्पत्य जीवन में दरार पड़ गई है। पुरुष कभी स्त्री के साथ दरिन्दा बन जाता है और कभी अत्यन्त दीन–हीन होकर मिट्टी का जड़ पुतला–मात्र बन जाता है।

'आधे–अधूरेपन को भरने और पूर्ण व्यक्ति की तलाश में स्त्री हर बार नये व्यक्ति की ओर भागती है। मनोज, शिवजीत, सिंघानिया, जगमोहन और जुनेजा के सम्पर्क में आकर वह हर बार कुछ और छली जाती है, रीझती है और खालीपन के साथ लौट आती है। हर दूसरे, चौथे वर्ष वह पुरुष से अलग होने का प्रयास करती है और

अन्ततः जगमोहन के लिए दाम्पत्य जीवन को ताक पर रखकर घर से जाती है लेकिन फिर से जगमोहन के इन्कार के कारण लौटने को अभिशप्त होती है।

इसी प्रकार पुरुष भी स्त्री से दूर भागने का प्रयास करता है लेकिन हर मंगल और शनिचर की तरह वापिस लौट आता है। दोनों एक दूसरे से तंग आ चुके हैं, जाते हैं और लड़खड़ाते हुए वापिस आ जाते हैं। कोई रास्ता नही ढूँढ पाने के कारण वे एक निश्चित दूरी और अलगाव बनाए रखकर अपनी जिन्दगी को लाश की तरह ढोने के लिए विवश होते हैं। यही दाम्पत्य जीवन की त्रासदी और स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की विसंगति है।

स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों में तनाव को मनोज–बिन्नी के माध्यम से सांकेतिक रूप में दिखाया गया है। पूरे नाटक में मनोज कहीं प्रत्यक्ष नहीं होता और न ही दोनों का प्रत्यक्ष झगड़ा होता है सिर्फ बिन्नी के कथन से ही जानकारी मिलती है। दोनों सावित्री और महेन्द्र के विडम्बनापूर्ण दाम्पत्य जीवन का जीवन्त उदाहरण हैं। स्त्री–पुरुष सम्बन्धों का तनाव मोहन राकेश के समग्र रचनाकार का ऐसा विषय है जो उनके साहित्य में बार–बार आया है। 'अन्धेरे बन्द कमरे' और 'अन्तराल' उपन्यास से लेकर 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक से लेकर 'आधे–अधूरे' तक में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के बीच अलगाव और तनाव की दुनिया देखी जा सकती है। पति–पत्नी के बीच की ऊब, घुटन, तनाव और बढ़ता अलगाव–इन सबके संकेत नाटक में बिखरे पड़े हैं। यहाँ जिस सामाजिक प्रतिबद्धता का ध्यान रखते हुए सम्बन्धों को ढोया जा रहा है वास्तव में वही विसंगति का मूल कारण है। बाईस साल की लम्बी अवधि को सावित्री–महेन्द्र लड़ते–झगड़ते रोते–पीटते काट देते हैं। चाहकर भी एक–दूसरे से मुक्त नहीं हो पाते–पुरुष अपनी आन्तरिक विवशता (आत्म स्वाबलम्बी नहीं होने) के कारण और स्त्री 'पूर्ण पुरुष को नहीं पाने के कारण अथवा सामाजिक लोक–लाज के कारण जिन्दगी को जी नही रहे बल्कि झेल रहे हैं।

5.3.2 पारिवारिक धरातल का तनाव और अलगाव :

'आधे–अधूरे' नाटक विघटित परिवार में व्याप्त दमघोटू वातावरण और उससे उबरने के लिए तड़पते हुए व्यक्तियों की विवशता सामने लाता है। पूरा परिवार अभिशापग्रस्त जैसा लगता है। परिवार का हर सदस्य एक–दूसरे से कटा हुआ है, सबके मन मे ज़हर भरा हुआ है। इस ज़हर भरे वातावरण में साँस लेना उनकी मजबूरी है। हर सदस्य निकल भागने की तलाश में एक–दूसरे पर कीचड़ उछालने की जुगाड़ में घात लगाए बैठा है। बच्चों का व्यक्तित्व और मानसिकता उसी विषाक्त वातावरण के कारण विषाक्त बनती जा रही है। 'घर' नाम की अनुभूति की संभावना उस घर में नही रह गई है। स्त्री घर में घुसते ही अव्यवस्था, बिखराव, अस्त–व्यस्तता और अकेलापन महसूस करती है। बड़ी लड़की ढूढती फिरती है, 'कहाँ छिपी है वह मनहूस चीज जो वह कहता है कि मैं इस घर से अपने अन्दर लेकर गई हूँ' ? छोटी लड़की भी घर को अकेला पाती है 'घर पर है भी कोई जिसके पास बैठती यहाँ' ? लड़का भी कड़वाहट भरे लहजे में कहता है, 'इसे घर कहती

हो तुम ? ... मैं खुद अपने को बेगाना महसूस करता हूँ यहाँ। इस बेगानेपन के बीच जीना ही सबकी मजबूरी है। नाटककार की दृष्टि में यह बेगानापन महसूस होना एक परिवार की नियति नहीं है, बल्कि आज की दुनिया में हर आदमी का अनुभूत सच है। यही उसकी त्रासदी है जो उसके जीवन को कटु, तनावपूर्ण और अकेला बना देती है लेकिन अन्ततः इसे झेलना ही है। सारे तनाव और बेगानेपन के बावजूद जिन्दगी घिसटती रहती है। इस प्रकार समकालीन पारिवारिक सच्चाई की यह नाटक तलाश करता है।

इस नाटक के सभी सदस्य एक–दूसरे से तंग आ चुके हैं और तनाव में जीते हुए अलग हो जाना चाहते हैं, लेकिन ऐसा कर नहीं पाते। एक छत के नीचे अकेलेपन के अहसास को भोगते हुए जीना नाटक की त्रासदी है। स्त्री–पुरुष, भाई बहन, माता–पिता, सन्तान–सबका सम्बन्ध परस्पर गाली–गलौज और कुढ़न तक सीमित हैं। एक परिवार–विशेष की कहानी के रुप में यह नाटक अत्यन्त प्रभावशाली है। पत्नी पर आश्रित पति की कितनी दयनीय स्थिति होती है महेन्द्र नाथ के माध्यम से नाटककार इसे जीवन्त करता है। पत्नी के लिए वह 'घरघुसरा', 'नाशुक्रा' 'रबड़ स्टैम्प' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। स्त्री से जब–तब तिरस्कृत होता रहता है, 'दिन भर घर पर रहकर आदमी और कुछ नहीं तो अपने कपड़े तो ठिकाने से रख ही सकता है। औरतों की तरह उसे घर का काम करना पड़ता है। समय पर छोटी लड़की को दूध गरम नहीं देने पर स्त्री जली–कटी सुनाती है और टोस्ट जल जाए तो छोटी लड़की की बदतमीजी सहनी पड़ती है। घर के लिए आटा पीसने की मशीन बन जाने वाली स्त्री की विडम्बना यह है कि उसे अपनी ही सन्तान की अवहेलना झेलनी पड़ती है।

यहाँ ऐसे परिवार का चित्र मिलता है जहाँ अब कुंठा, छटपटाहट, तनाव हर समय छाया रहता है। इतना ही नहीं कभी–कभी तो बर्बरता और नृशंसतापूर्ण घटनाऐं भी घटित होती हैं। ऐसे दृश्यों का बयान बड़ी लड़की करती है, 'आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या–क्या होता है यहाँ। डैडी का चीखते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर..... मैं जो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने–कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर मे मैंने...।' दाम्पत्य जीवन की टूटन का असर पूरे परिवार पर पड़ता है। पूरा घर जहरीला सा हो जाता है। बड़ी लड़की इसे ही 'हवा' कहती है। इस 'हवा' के कारण ही परिवार के लोगों में जरा सा भी लगाव और प्रेम नहीं है। माँ के प्रेमी के साथ बड़ी लड़की भाग जाती है किन्तु सुखी नहीं रह पाती। लड़के को माँ के बाहरी सम्बन्ध पसन्द नहीं। उसे लगता है कि ऐसे लोगों के आने से घर के लोग खुद को और छोटा महसूस करते हैं। सावित्री का यह दावा कि वह घर के लोगों की भलाई के लिए ऐसा कर रही है अशोक को निस्सार लगता है कि, 'कोई और निभाने वाला नहीं है। यह बात बहुत बार कही जा चुकी है इस घर में...मैं पूछता हूँ क्यों करती हैं ? किसके लिए करती है–तेरे लिए... तू घर छोड़कर चली गई...वह (किन्नी दिन ब–दिन पहले से बदतमीज होती जा रही है... उनकी (डैडी की) हालत देखकर रहम नहीं आता ?' घर शब्द से जो चित्र सामने आता है उसके दर्शन यहाँ नहीं होते बल्कि घर का भद्दा और बदरंग रूप ही दिखाई देता है।

दाम्पत्य जीवन की दरार पारिवारिक वातावरण को भी कुण्ठित करती है। स्त्री–पुरुष का अलगाव भरा व्यवहार परिवार को प्रभावित करता हुआ बच्चों के मन में नफरत और आपसी क्लेश का कारण बनता है। ऐसे परिवार में सभी एक–दूसरे से कटे हुए रहते हैं। उनके बीच सम्वाद की संभावनाएँ नहीं रह गयी हैं और अगर बोलते भी हैं तो चिढ़ और कुढ़न से भरे हुए शब्द–बाण छोड़ते हैं। बिन्नी को अपने वैवाहिक जीवन में कोई आत्मीयता दिखाई नहीं देती इसीलिए एक प्रश्न उसके मन में उठता रहता है, 'ऐसा भी होता है क्या... कि दो आदमी जितना साथ रहें, एक हवा में सांस लें, उतना ही ज्यादा अपने को एक–दूसरे से अजनबी महसूस करें ? इसके उत्तर स्वरूप वह सिर्फ इतना ही समझ पाती है, 'मैं इस घर से ही अपने अन्दर कुछ ऐसी चीज लेकर गई हूँ जो किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देती।' शायद इस घर में 'घर' जैसी चीज़ नहीं मिलने पर ही वह मनोज की जरा–सी सहानुभूति पाकर ही भाग निकलती है। हालाकि वहाँ भी उसकी जिन्दगी सवालों, उलझनों और प्रतिक्रियावादी दृष्टि से घिरी रहती है। इस प्रकार पारिवारिक स्तर पर तनाव और अलगाव की प्रक्रिया अगली पीढ़ी तक चलती रहती है।

5.3.3 व्यक्तिगत स्तर पर तनाव और अलगाव :

परिवार व्यक्तियों के समूह से बनता है। अतः पारिवारिक स्तर पर भोगे जाने वाले तनाव और अलगाव की प्रक्रिया में व्यक्ति निजी धरातल पर सम्मिलित हो ही जाता है। किन्तु समकालीन साहित्य और आधुनिक समाज, व्यक्ति, उसका निजत्व या 'मैं' की भावना ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई है। वैसे भी अस्तित्ववादी विचारधारा के अनुसार व्यक्ति इस संसार में नितांत अकेला है और अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। दूसरी ओर वह चयन नहीं कर पाने की सीमा से भी अभिशप्त है। 'आधे–अधूरे' नाटक में व्यक्तिगत धरातल पर हम सभी पात्रों को अपने भाग्य का निर्माता होने के लिए छटपटाते हुए देखते हैं किन्तु कोई सार्थक विकल्प नहीं मिल पाने के कारण तनाव और अलगाव से टूटते हुए भी पाते हैं। हालाकि नाटककार ने स्पष्ट कर दिया है कि इस नाटक की कहानी किसी व्यक्ति विशेष की न होकर किसी भी व्यक्ति की हो सकती है।

परिस्थितियों के अधीन होकर आज का व्यक्ति यातना और तनाव भोग रहा है। 'आधे–अधूरे' नाटक में वर्तमान जीवन के टूटते हुए सम्बन्धों, व्यक्ति के खण्डित व्यक्तित्व और अस्तित्व में गहराते अलगावपूर्ण संकट का यथातथ्य सजीव चित्रण हुआ है। इस चित्र का साक्षात्कार नाटककार ने गृहिणी की कमाई पर पलने वाले परिवार के चार लोगों के आधार पर कराया है। एक मध्यवर्गीय परिवार में पांच सदस्यों के परस्पर संघात और शुष्क वातावरण में सांस लेने की विवशता से कैसी दुःखद और तनावपूर्ण स्थिति सामने आती है, नाटक में इसका अत्यन्त कलापूर्ण एवं सुगठित प्रमाण मिलता है। इस नाटक की राह से गुजरें तो इसकी शुरुआत एक कमरे से होती है, जो घर नहीं है, जिसमें चीज़ें बिखरी हैं और एक फालतू आदमी है। इस घर से बड़ी लड़की भाग चुकी है और छोटी गुस्ताख बन चुकी है। लडका तस्वीरें काटता रहता है और बाप बेकार है। बडी लडकी के लिए अपने व्यक्तित्व की खोज, घर की खोज में है और घर की खोज, व्यक्तित्व की खोज में है। यह खोज मोहन राकेश के नाटकों की मूल खोज है। माँ–बेटी दोनों ही इस खोज को खोजने में लगी हैं। माँ के घर

को लड़की के घर में दोहराया जा रहा है। इसी प्रकार फालतू आदमी के जवाब में उसका दब्बूपन उतना नहीं है, जितना उसके व्यक्तित्व का विसंगत हो जाना। उसके लिए घर में सब 'रबर स्टैम्प' हैं और वह खुद एक रबड़ का टुकड़ा जिसे जब-तब दूसरों का दोष मिटाने के लिए इस्तेमाल किया जा सके। यहाँ हर व्यक्ति भाग जाना चाहता है। स्त्री जगमोहन के साथ, पुरुष जुनेजा के साथ और बड़ी लड़की मनोज के साथ। किसी के भी साथ स्त्री की शादी असफल हो सकती है। क्या यह सावित्री की नियति है या नारी की ? तनाव से मुक्ति और अलगाव को दूर करने की स्वतन्त्रता का स्वप्न बेमानी लगने लगता है। पुरुष चार के कथन में व्यक्तिगत तनाव की गतिशियता और अकेलेपन की गहरी पीड़ा व्यक्त होती है, 'तुम्हें लगता है कि चुनाव कर सकती हो, लेकिन दाएं से हटकर बाएं, सामने से हटकर पीछे, इस कोने से हटकर उस कोने में–क्या सचमुच कहीं कोई चुनाव नज़र आया है तुम्हें ?' इस नाटक में आत्म की खोज, निजत्व की तलाश, आधी और अधूरी साबित होती है। स्वयं को, दूसरों को न समझ पाने की नियति क्या किसी विशेष वर्ग की है या आम आदमी की है। इसे पहचानने की कोशिश यहाँ हुई है।

'आधे-अधूरे' के व्यक्ति प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करते हैं। बिन्नी आधुनिक भारतीय नारी के उस असुरक्षित जीवन का प्रतिरूप है, जिसका अस्तित्व पति द्वारा छोड़ दिए जाने पर क्षीण हो जाता है। बदमिजाज और बदतमीज किन्नी की हर चीज़ में विद्रोह का भाव है। परम्परागत जीवन-मूल्यों के प्रति उदासीन अशोक अकर्मण्य आधुनिक पीढ़ी में आक्रोश का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे दूसरों को दुःख देने में सफलता का अनुभव होता है। ये सभी त्रस्त चरित्र व्यक्ति विशेष न रहकर हम तक पहुँच गए हैं। आज के व्यक्ति के सन्त्रास, यन्त्रणा, पीड़ा, तनाव और अलगाव के अजनबी अहसास का साक्षात्कार यहाँ हुआ है। आधुनिक जीवन में टूटते सम्बन्धों और विघटित हुए मानव-मूल्यों को ये पात्र रेखांकित करते हैं जिनके माध्यम से जटिल एवं तनावपूर्ण व्यक्ति सरोकारों की पहचान मिलती है।

बड़ों के विपरीत व्यवहार का छोटों पर कितना कुप्रभाव पड़ता है, इसका जीवन्त उदाहरण अशोक और किन्नी हैं। छोटी लड़की को काबू में रखने के लिए माँ डाँटती है तो वह अपने पक्ष में बोलते हुए भाई पर ताने कसती है, 'जैसे शोकी मारा-मारा फिरता है सारा दिन मैं भी फिरती रहा करूँगी।' अशोक के कारनामों से सावित्री परिचित है लेकिन उसके स्वभाव का अंग मानकर चुप रहती है हालांकि मौका आने पर हर एक के नकाब को उतारने की कोशिश की जाती है। बेटे की करतूत का जिक्र करते हुए कहती है कि अशोक की रुचि 'दिन भर ऊँघने में, तस्वीरें काटने में और घर की यह चीज़ वह चीज़ ले जाकर....।' इससे आगे के कथन को किन्नी पूरा करती है, 'कभी मेरी बर्थ-डे प्रेजेंट की चूड़ियाँ दे आता है, उसे कभी मेरा प्राइज का फाउंटेन पेन।' यह 'उसे' कौन है, 'वही उद्योग सेंटर वाली। जिसके पीछे जूतियाँ चटखाता फिरता है।' स्पष्ट है कि व्यक्तिगत धरातल पर हर व्यक्ति में एक-दूसरे के प्रति क्षोभ और घृणा है जिससे घर, घर न रहकर टूटा-फूटा मकान हो गया है।

छोटी लड़की किन्नी भाई पर अंगुली बेशक उठा ले किन्तु उसकी दिलचस्पी अपनी सहेली सुरेखा से मम्मी–डैडी सम्बन्धों सम्बन्धी बातें करने तक ही सीमित है। 'कैसेनोवा' पढ़ना उसके चरित्र की विसंगति को स्पष्ट करता है। उसमें तनाव, विद्रोह है लेकिन वह रचनात्मक नहीं बल्कि विध्वंसात्मक है जिसे टोस्ट फूंकने, बस्ता फेंकने में देखा जा सकता है। परिवार में अकेलापन महसूस करने पर जाहिर है कि सन्तान किन्नी जैसी ही हो सकती है। पूरा परिवार और इसकी छत के नीचे रहने वाले व्यक्ति अनिर्णय, अनिश्चय, तनाव, अलगाव, अजनबीयत के शिकार हैं। सभी व्यक्ति मानसिक रूप से अस्वस्थ हैं। दूसरों के लिए या घर के लिए कुछ करने की प्रेरणा केवल दिखावा है। सभी व्यक्ति एक–दूसरे से टकराते हैं, बिखरते हैं और साथ होते हुए भी अलग रहते हैं।

'आधे–अधूरे' नाटक में परस्पर टकराहट, टूटन और अलगाव परिवार के लोगों की नियति का अनिवार्य और अविभाज्य अंग हैं। नाटककार ने दाम्पत्य जीवन की टूटन के फलस्वरूप पारिवारिक त्रासदी के साथ व्यक्तिगत तनाव और अलगाव को रेखांकित किया है। इसी कारण नाटक में 'घर' और 'परिवार' की चर्चा बार–बार होती है किन्तु परिणति रूप में तनाव और अलगाव के दर्शन होते हैं। इस नाटक में केवल सावित्री ही ऐसे पात्र के रूप में सामने आती है जिसमें घर की, एक पूरे घर की चाह है और इस पूरे घर का पर्याय पूर्ण पुरुष है जो उसे नहीं मिलता। दूसरी ओर महेन्द्रनाथ एकमात्र ऐसे व्यक्ति के रूप में दिखाई देता है जो लगातार अपने अस्तित्व को लेकर प्रश्नातुर है और उत्तरस्वरूप पाता है कि वह केवल एक 'रबर' है, जिसका इस्तेमाल दूसरे अपनी गलतियाँ ठीक करने के लिए करते हैं। शेष चरित्र आत्म तक सीमित हैं जिनमें परिवार या घर जैसे शब्दों के प्रति आकर्षण का अभाव है अतः सर्वत्र तनाव मिलता है। आत्मकेंद्रित ये पात्र इसी लिए अकेलेपन के शिकार हैं। जिससे छुटकारा पाने के लिए सावित्री पुरुष दो, तीन, चार तक फेरे लगाती है, बिन्नी अपना घर (पति) छोड़कर नये घर की तलाश में मायके लौटती है, अशोक सेंटरवाली के पीछे जूतियाँ चटखाता है, किन्नी 'कैसेनोवा' पढ़ती है और महेन्द्रनाथ लड़खड़ाता हुआ घर लौटता है। पूरे नाटक में भीड़ का अकेलापन, घर में रहते हुए अजनबीपन का अहसास मिलता है और उससे उत्पन्न होता है तनाव, तनाव से पूर्णता की तलाश और फिर अकेलापन, अकेलेपन से फिर तनाव। इस प्रकार यह चक्र जीवन–मृत्यु, सुख–दुख, धूप–छाया, रात–दिन की भाँति चलता रहता है।

5.4 सारांश

मोहन राकेश के सम्पूर्ण साहित्य में दाम्पत्य जीवन और उसकी परिधि में आने वाले सभी पात्रों और स्थितियों का तनाव–अलगाव से घिरे रहना नियति है जिसका चरम रूप 'आधे–अधूरे' नाटक में मिलता है।

5.5 कठिन शब्द

1. अनुस्यूत	2. स्वावलम्बन	3. क्षुब्ध	4. निरूपित	5. प्रतिबद्धता
6. विषावत	7. निस्सार	8. अविभाज्य	9. परिणति	10. गतिशयता

5.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'आधे–अधूरे' नाटक तनाव एवं अलगाव का दस्तावेज है स्पष्ट करें ।

2. 'आधे–अधूरे' नाटक मे पारिवारिक एवं व्यक्तिगत स्तर पर व्याप्त तनाव एवं अलगाव पर प्रकाश डालें।

5.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. 'आधे–अधूरे' – मोहन राकेश
2. 'आधे–अधूरे' : संवदेना और शिल्प – सिद्धनाथ कुमार
3. मोहन राकेश और उनके नाटक – गिरीश रस्तोगी
4. मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक – नेमिचन्द्र जैन।

....

'आधे–अधूरे' में चित्रित आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन

6.0 रूपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3. 'आधे–अधूरे' में चित्रित आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन

6.4. सारांश

6.5 कठिन शब्द

6.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.7. सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

6.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप

1. आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन के संदर्भ में आधे–अधूरे के कथ्य को जान सकेंगे।
2. मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों, टूटते पारिवारिक सम्बन्धों और दाम्पत्य जीवन के द्वन्द्व को जान सकेंगे।
3. व्यक्ति के पूर्णता की तलाश में भटकाव से अवगत होंगे।

6.2. प्रस्तावना

स्वतन्त्रता के बाद एक बड़ा वर्ग सामने आया मध्यवर्ग। अब से पहले उच्च और निम्न वर्ग थे किन्तु महानगरीय सभ्यता के विकास, संयुक्त परिवारों के विघटन, शहरों में रोजगार के अवसर और गाँवों में अशिक्षा और बेरोज़गारी से भागे नये–नये शहरी बनते लोगों ने मध्यवर्ग को जन्म दिया। यह वर्ग तो सपने संजोये है उच्च वर्ग के और हैसियत है निम्न वर्ग की – परिणाम कुण्ठा और विसंगतिपूर्ण जीवन की शुरुआत। समकालीन साहित्य मे इस वर्ग ने अपनी खास जगह बनायी है।

अभाव की कड़वाहट का जितना तीखा अनुभव मध्यवर्ग को है, उतना शायद अन्य किसी को नहीं है। मध्यवर्गीय व्यक्ति में आस–पास के परिवेश तथा उच्च वर्ग के सम्पर्क के कारण और ज्यादा पाने की लालसा

इतनी तीव्र हो जाती है कि जो कुछ उसके पास है, उससे वह सन्तुष्ट नहीं होता। इस असन्तोष के कारण उसके वैयक्तिक जीवन में इतनी रिक्तता आ जाती है कि जो उसके पास है, वह उसे भी खो बैठता है। एक के बाद एक ठोकर खाकर भी वह प्राप्त से मुँह मोड़कर अप्राप्य की ओर बढ़ता है। निराशा और असफलता उसके मन को बार–बार झकझोरती जरूर है परन्तु उसकी गलती का अहसास नहीं करा पाती। जब अहसास होता है तब तक इतनी देर हो चुकी होती है कि लौटने का उत्साह खत्म हो जाता है। अगर उत्साह हो भी तो झूठी शान और सम्मान के सहारे उसे दफना देने की कोशिश की जाती है। मध्यवर्ग की यह अजीब स्थिति रचनाकारों का ध्यान बराबर आकर्षित करती रही है। सावित्री की मनोदशा भी ठीक ऐसी ही है। मोहन राकेश ने मध्यवर्गीय जीवन की इस विसंगति को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। इन रचनाओं में उनका 'आधे–अधूरे' नाटक अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

6.3. 'आधे–अधूरे' में चित्रित आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन

'आधे–अधूरे' नाटक आज के जीवन को आज के मुहावरे में प्रस्तुत करता है। इसमें मध्यवर्गीय जीवन की विसगतियो, टूटते पारिवारिक सम्बन्धो और दाम्पत्य जीवन के द्वन्द्व को उनके सही संदर्भों मे देखा गया है। यहाँ समस्याओं का सीधा समाधान नहीं है, बल्कि उनसे जूझने का प्रयास है। विडम्बना यह है कि आदमी स्वयं अधूरा होते हुए भी दूसरो को, अधूरेपन को सहना नही चाहता और काल्पनिक पूर्णता की तलाश मे भटक कर अपनी और दूसरों की जिन्दगी को नरक बना देता है। मोहन राकेश इस स्थिति को कुछ विशेष व्यक्तियों या परिवारों तक सीमित नहीं मानकर सामान्य मानते हैं। इसलिए पात्रों को जातिवाचक नाम दिये हैं। पात्रों का विशिष्ट रूप होने के बावजूद 'रास्ते में टकराने वाले किसी भी व्यक्ति को लेकर यह नाटक चल सकता है। अंदर से बिखरे किन्तु मुखौटा पहने जीने को विवश मध्यवर्ग जिन्दगी की लड़ाई पूरी तरह नहीं लड पाने की वजह से छटपटाहट लिए विसंगतियों से ग्रस्त है। उसकी जरूरतें, आशाएँ, सपने अन्ततः झल्लाहट और चिड़चिड़ाहट मे व्यक्त होते हैं। आय के सीमित साधनों के सहारे जीवन स्तर ऊँचा उठाने के स्वप्न यथार्थ (गरीबी) की चट्टान से टकरा–टकरा कर चूर–चूर हो जाते हैं। नाकाम कोशिशें उनके जीवन में तनाव उत्पन्न करती हैं। व्यक्ति कोल्हू के बैल की भाँति चक्कर लगाते हुए वहीं आ पहुँचता है जहाँ से शुरूआत हुई थी। अपनी ही असंगति के बीच घिरे रहना उसकी नियति है। नाटककार मोहन राकेश ने इसी वर्ग और उसकी स्थितियों का चित्रण 'आधे–अधूरे' नाटक में किया है। इस नाटक के पात्रों का दृष्टिकोण मध्यवर्गीय परिवार के विचारों का सही प्रतिनिधित्व करता है।

सावित्री को मध्यवर्गीय मनोदशा का प्रतीक बताते हुए नाटककार जुनेजा से कहलवाता है, 'तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह इतना कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करतीं ; तुम हमेशा ही इतनी खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहतीं।' और इसीलिए सावित्री की जिन्दगी मे खालीपन किसी व्यक्ति–विशेष के साथ विवाह–बन्धन के कारण नहीं है, बल्कि वह एक प्रवृत्ति है

जो वर्तमान परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं होकर बार–बार उससे दूर हटने के लिए प्रेरित करती है। यही कारण है कि सावित्री की ज़िन्दगी में जो–जो आए, वे उसके अभाव को दूर करने में असमर्थ रहे। इस बेचैनी का कारण वह महेन्द्रनाथ में खोजती है जो उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण रूप से अपना नहीं है, 'जो सिर्फ दूसरों के खाली खाने को भरने की चीज़ है।' महेन्द्र भी एक आदमी है, जिसकी पत्नी, बच्चे, घर है यह बात महेन्द्र को अपना कहने वालों को रास नहीं आई। महेन्द्र से अपने आपको झटक लेने का कारण वह उसके दोस्तों की फब्तियों को ही बताती है, सावित्री महेन्द्र की नाक में नकेल डालकर उसे अपने ढ़ंग से चला रही है। सावित्री बेचारे महेन्द्र की रीढ़ तोड़कर उसे किसी लायक नहीं रहने दे रही है।' इन व्यंग्य–बाणों पर भी बात खत्म हो जाती तो गनीमत थी किन्तु ऐसा नहीं होता। दृश्य इससे भी भयानक रूप धारण कर लेता है। वही महेन्द्र जो दोस्तों के बीच दब्बू–सा बना हल्के–हल्के मुस्कराता है, घर आकर एक दरिन्दा बन जाता है। पता नहीं कब किसे नोंच लेगा, कब किसे फाड़ खायेगा। आज वह ताव में अपनी कमीज़ को आग लगा लेता है। कल वह सावित्री की छाती पर बैठकर उसका सिर ज़मीन पर रगड़ने लगता है। इस प्रकार के दृश्य मध्यवर्ग में आम हैं।

ऐसे दृश्यों का बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ता है इसे बड़ी लड़की के टूटे दाम्पत्य जीवन, छोटी लड़की की बदतमीजी और अशोक की आवारगी में देखा जा सकता है। इतने पर भी जुनेजा की इस सफ़ाई पर कि महेन्द्र अपनी पत्नी से प्रेम करता है। बिन्नी बिफर पड़ती है, आप शायद सोच भी नहीं सकते क्या–क्या होता रहा है यहाँ। डैडी का चीखते हुए ममी के कपड़े तार–तार कर देना... उनके मुहँ पर पट्टी बाँध कर उन्हें बन्द कमरे में पीटना... चीखते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर......।' लेकिन विचित्रता यह है कि सावित्री फिर भी महेन्द्र को छोड़ती नहीं है। यद्यपि उसने स्वयं को झटक लेने की कोशिश बराबर की किन्तु सफलता नहीं मिलती और जगमोहन के विश्वासघात के बाद स्वयं को एकदम बेसहारा भी नहीं छोड़ना चाहती। यह कशमकश चलती रहती है और अलग होने की आखिरी कोशिश का संकेत करते हुए बिन्नी से कहती है, 'अगली बार आने पर मैं तुझे न मिलूँ शायद।' इस पर बड़ी लड़की सुझाव देती है कि थोड़ा और सोच लेतीं। जबकि अशोक बहन की अपेक्षा खुलकर माँ का प्रतिवाद करता है। सिंघानिया का कार्टून बनाकर मजाक उड़ाना इसी का परिणाम है। अपने मध्यवर्गीय अहसास से उसे घृणा है, 'तुम ऐसे लोगों को क्यों बुलाती हो जिनके आने से हम जितने छोटे हैं, इससे और छोटे हो जाते हैं अपनी नज़र में।' वह मानने को तैयार नहीं कि ऐसे लोगों को बुलाने के पीछे घर की आर्थिक स्थिति में सुधार की मंशा है। उसके अनुसार यह सब माँ का निजी सुख के लिए ढ़ोंग है। हालांकि यह बात भी काफ़ी हद तक पाठक/दर्शक से छिपी नहीं रहती लेकिन यही आक्षेप जब बिन्नी पर भी लगता है आश्चर्य जरूर होता है।

बिन्नी–मनोज के बीच वैसी ही घुटन है जैसी महेन्द्र–सावित्री के बीच, लेकिन बिन्नी अलग हो जाती है, हालांकि मनोज की स्मृति से वह मुक्त नहीं हो पाती। आर्थिक समृद्धि के बावजूद सम्बन्धों की खटास उसमें रिक्तता भरती है, 'एक गुबार सा है जो हर वक्त मेरे अन्दर भरा रहता है और मैं इन्तजार में रहती हूँ जैसे कब कोई बहाना मिले जिससे उसे बाहर निकाल लूँ।' इसी कारण वह छोटी–छोटी बातों को लेकर मनोज से उलझती है। वह हर ऐसी बात कहना और करना चाहती है जो मनोज को अच्छी नहीं लगती, जिससे वह उसके

मन को चोट पहुँचा सके। बिन्नी की यह मानसिकता मध्यवर्गीय संस्कारों की देन है जो वह सावित्री के पास से लाई है जिसे बिन्नी एक प्रकार की हवा कहती है। इस हवा में घुटन है। असंतोष और अविश्वास की भावना से यह हवा विषाक्त हो गई है। इस प्रकार के वातावरण में घर नामक स्थान से जिस तरह की कल्पना की जाती है वह यहाँ मौजूद नहीं है। पास रहते हुए भी इस घर के लोग एक–दूसरे से कितने दूर हैं 'क्या इसे घर कहती हो तुम ?' अशोक के इस व्यंग्य में कितना कटु सत्य है किन्तु जिसे स्वीकार करने और पहचानने को हम तैयार नहीं हैं।

इस प्रकार के विषाक्त मध्यवर्गीय परिवार में माता–पिता एक–दूसरे पर आशंका व्यक्त करते हैं और दूसरे को ही बरबादी का कारण मानकर बच्चों के चारित्रिक विकास के पक्ष को देख नहीं पाते। पत्नी अशोक के सम्बन्ध ने पति को ताना देती है, 'वजह का पता तुम्हें पता होगा या तुम्हारे लड़के को। वह भी तीन–तीन दिन दिखाई नहीं देता घर पर। ....जिस तरह तुमने खराब की अपनी जिन्दगी, उसी तरह वह भी...।' तब पिता भी बिन्नी–मनोज के सम्बन्धों को लेकर कीचड़ उछाल देता है, 'और लड़की तुम्हारी ? उसने अपनी जिन्दगी रब्बर करने की सीख किससे ली थी ? ....मैंने तो कभी कसी के साथ घर से भागने की बात नहीं सोची थी।' जाहिर है कि मध्यवर्गीय परिवार में सन्तान को दोनों की जिम्मेदारी नहीं मानकर अपने दायित्व से बचने की कोशिश करते हुए दूसरे की छीछालेदरी की जाती है।

इसी प्रकार की प्रतिक्रिया सन्तान भी करती है। अशोक का बेमतलब घूमना, मैगजीन से तस्वीरें काटना और ऐसी ही बेमतलब चीज़ों में दिलचस्पी लेना–सभी उसके चरित्र के अंग बन गये हैं। इसीलिए उसके प्रति छोटी लड़की भी तिरस्कार पूर्ण शब्दावली का प्रयोग करती है, 'जैसे शोकी मारा–मारा फिरता है सारा दिन, मैं भी फिरती रहा करूँगी। इस मारे–मारे फिरने के साथ कुछ और भी जुड़ा हुआ है। यह बात सावित्री भी जानती है, 'दिलचस्पी तो तेरी सिर्फ तीन चीजों में है– दिन भर ऊँघने में, तस्वीरें काटने मे और... घर की यह चीज़ वह चीज़ ले जाकर....। इससे आगे वह नही कह पाती जिसे छोटी लड़की पूरा कर देती है, 'कभी मेरी बर्थडे प्रेजेन्ट की चूड़ियाँ दे आता है उसे, कभी मेरे प्राइज का फाउन्टेन पेन।' यह 'उसे' कौन है, 'वही उद्योग सेंटर वाली। जिसके पीछे जूतियाँ चटखाता फिरता है।' ध्यान देने की बात है कि भाई पर तोहमत लगाने वाली छोटी लड़की क्या स्वंय को इस भावना से मुक्त रख सकी ? वह अपनी सहेली सुलेखा से अपने मम्मी–डैडी के बारे में जो बातें करती है उन्हें सुनकर अशोक का गुस्से से भर जाना स्वाभाविक है। 'केवल बालिगों के लिए' लेबल वाली पुस्तकों और तस्वीरों में जितनी अशोक की रूचि है। उतनी किन्नी की भी है। अर्थात् कोई किसी की तरफ अंगुली उठाकर खुद को बेदाग साबित नहीं कर सकता।

'आधे–अधूरे' नाटक में मध्यवर्गीय परिवार में व्यक्ति के बौनेपन और जीवन–संघर्ष की जटिलता में फंसे पात्रों की पीड़ा–आकांक्षा का यथार्थ चित्रण हुआ है। परिवार का प्रत्येक सदस्य कलहपूर्ण वातावरण से निकलने के लिए छटपटाता है और घुटकर रह जाता है। आज की बदली हुई परिस्थितियों में आर्थिक विपन्नता के कारण मध्यवर्गीय परिवार जिन तनावों और अभावों के बीच घुटन भरे वातावरण में सांस ले रहा है, उसकी सच्ची तस्वीर

नाटककार ने खींची है। अतिरिक्त कला प्रदर्शन नहीं करते हुए यथार्थ को सही रूप में उतारने की कोशिश यहाँ हुई है। आर्थिक अंसतोष कलह का कारण बनता है।

महेन्द्रनाथ व्यवसाय में असफल होने के बाद परिवार के लिए बोझ बन गया है। सावित्री अपने कन्धों पर उसका और परिवार का बोझ ढोती है। वह आर्थिक दृष्टि से परिवार को सम्पन्न देखना चाहती है, किन्तु परिवार के सदस्यों से उसे किसी प्रकार का सहयोग प्राप्त नहीं बल्कि उसके चरित्र पर अंगुली उठायी जाती है। अशोक आवारा बनकर घूमने में मस्त है और नौकरी दिलाने की सावित्री की कोशिशों पर पानी फेर देता है। बड़ी लड़की मनोज के साथ भाग जाती है और लौट भी आती है। छोटी लड़की नयी ड्रेस, नया बस्ता नहीं आने से क्षुब्ध है। इस प्रकार हर कोई दरिद्रता के कारण घुटन में जी रहा है और बदले में एक–दूसरे से कड़वा बोलकर आक्रोश को शान्त करने की कोशिश कर रहा है। घर की बेहाल–फटिहाल हालत ऐसी है कि 'सब रूपों में इस्तेमाल होने वाला वह कमरा जिसमें घर के व्यतीत स्तर के कई एक टूटते अवशेष–सोफासेट, डाइनिंग टेबल, कर्वड और ड्रेसिंग टेबल, गद्दे, परदे, मेजपोश और पलंगपोश अगर है तो इस तरह घिसे, फटे या सिले हुए कि समझ में नहीं आता कि उनका न होना क्या होने से बेहतर नहीं था....।' सब कुछ जर्जर लेकिन आधुनिक फर्नीचर से आर्थिक स्तर ऊँचा उठाने की कोशिश मध्यवर्गीय विसंगति का अनिवार्य हिस्सा है।

मध्यवर्गीय परिवारों के असन्तोष का कारण सामर्थ्यहीन होने के बावजूद ठाठ–बाट की जिन्दगी जीने की ख्वाहिश है। नाटक के सभी पात्र जिन अभावों, अपूर्णताओं को महसूस करते हैं, वे उनकी इसी मानसिकता का परिणाम हैं। उच्च वर्ग की ज़िन्दगी जीने के सपने बिखर जाते हैं। यह बिखराव एक तरह की वितृष्णा पैदा करता है इसीलिए सावित्री दूसरे पुरुषों की ओर आकर्षित होती है लेकिन हर बार निराश होती है। परिणामस्वरूप उसका जीवन कड़ुवाहट से भर जाता है। कमाऊ स्त्री महेन्द्र को लिजलिजा, चिपचिपा–सा समझती है। उसकी जिन्दगी में खालीपन और झल्लाहट पति के साथ हुई अनबन के कारण तो है ही लेकिन इसका बहुत बड़ा कारण परिवेश है। वह परिवेश जिसमें वह डिग्रीधारी, नामधारी लोगों के सम्पर्क में आती है। आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार इन्हीं विसंगतियों में जी रहा है। स्त्री और पुरुष दोनों की बातचीत में विसंगति बोध है जहाँ स्त्री बेटे की नौकरी के जुगाड़ में उसकी बदसलूकी बरदाश्त करती है और वह बड़ी लड़की में रूचि लेता है। स्त्री मध्यवर्ग की और सिंघानिया उच्च वर्ग का है। इन दोनों के बीच संतुलित संवाद की स्थिति पैदा नहीं हो सकती। निम्न उच्च वर्ग को जोड़ने वाला सूत्र कभी नहीं रहा और आज के परिवेश में मध्यवर्ग इसकी चपेट में आ गया है। अपनी–अपनी अलग हैसियत के कारण दोनों का सम्बन्ध टूट चुका है। फिर भी स्वार्थ के कारण एक धरातल पर वे मिलते हैं और मतलब निकल जाने पर फिर से एक–दूसरे के लिए अजनबी हो जाते हैं।

नाटककार ने अशोक के माध्यम से उच्च वर्ग पर करारा व्यंग्य किया है। सिंघानिया का कार्टून 'वनमानुस' के रूप में बना कर मध्यमवर्ग अपनी घृणा को व्यक्त करता है। पुरूष तीन (जगमोहन) भी साधन–सम्पन्न है। स्त्री के साथ खेल खेलना उसका शौक है जिसकी शिकार सावित्री होती है। दरअसल

मध्यवर्ग की कुण्ठा का कारण उच्च वर्ग द्वारा उसका दोहन–शोषण भी है। इस प्रकार के उच्च वर्ग की अवसरवादिता, खोखलेपन और कामुकता पर आश्रित मध्यवर्ग की असहाय स्थिति सामने आती है। सावित्री के दूसरे पुरुषों से सम्बन्ध को लेकर सभी आशंकित हैं। अन्य पुरुषों से सम्पर्क के उसके अन्य कारण रहे हैं लेकिन इनके मूल में आर्थिक अभाव से इंकार नहीं किया जा सकता है। घर का भार चाहे पुरुष पर हो या स्त्री पर, ऐसी स्थिति आमतौर पर आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार में देखने को मिलती है। नाटक के और ऐसे परिवारों के सदस्यों की विकृति के कारण और भी हो सकते हैं लेकिन वे गहरे में जाकर कहीं न कहीं अर्थ से जुड़ जाते हैं।

असुरक्षित और अनिश्चित जीवन आधुनिक मध्यवर्गीय परिवारों की यन्त्रणा है। पात्रों और परिस्थितियों की टकराहट से आत्मघाती माहौल पैदा होता है। मध्यवर्गीय यन्त्रणा पहले भी थी किन्तु आज के जैसे विक्षिप्त करने वाली नहीं थी। यह आधुनिक मध्यवर्ग के बदले हुए परिवेश और आहत मन की उपज है अतः बाह्य और आन्तरिक संघर्ष अनिवार्य है। व्यक्ति को खण्डित होने से बचाना मुश्किल हो गया है। 'आधे अधूरे' नाटक में इस प्रकार की मानसिकता के शिकार पात्रों और परिवार, कुण्ठित व्यक्तित्व, जीवन संघर्ष की दुर्निवार जटिलता का चित्रण हुआ है। यहाँ ऐसे आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार का चित्र सामने आता है जिसमें अपनों पर विश्वास नहीं किया जा सकता किन्तु अपने से श्रेष्ठ मानकर दूसरों की पूजा, प्रतिष्ठा, आदर–सम्मान सब कुछ किया जा सकता है। इस प्रकार हीनता का भाव जो घुसता चला जाता है वह व्यक्तित्व को कभी उभरने नहीं देता जिसके कारण ज़िन्दगी बेमानी, बेमतलब और गैर जरूरी हो जाती है। सम्पूर्ण नाटक में मध्यवर्गीय तनाव, बिखराव लक्षित होता है। आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं घुटकर भी दूसरों के लिए मुस्कान ओढ़ी जाती है। नाटककार मानो प्रश्न करता है कि क्या सचमुच हमारी ज़िन्दगी की सार्थकता दूसरों के लिए सीढ़ी बनने में है।

'आधे–अधूरे' नाटक में आर्थिक अभाव और उसके कारण टूटते परिवार का चित्रण व्यापक सामाजिक धरातल पर हुआ है। परिवार बाहर से जुड़ा है, किन्तु पति–पत्नी, भाई–बहन, पिता–पुत्र, माँ–बेटी के बीच एक छत के नीचे रहने की नियति से अधिक कोई आन्तरिक रिश्ता अर्थवान् नहीं रह गया है। उन अनर्गल और अर्थहीन हो गये रिश्तों को ठुकरा देना अथवा अर्थ देना न पुरुष के वश में रह गया है और न ही वह क्षमता स्त्री पा सकी है। जब–तब दोनों बाहर भागते हैं, किन्तु कुछ और टूटकर वापिस लौट आते हैं। बदलते परिवेश में आज के विडम्बना ग्रस्त मध्यवर्ग की यह तस्वीर मोहन राकेश की सामाजिक यथार्थ–चेतना की गहरी पकड़ के कारण है।

आधुनिक मानव अस्तित्व बोध के संकट से जितना जूझता है उसमें भी मध्यवर्गीय व्यक्ति के अस्तित्व का संकट ज्यादा गहरा होता जा रहा है। इस संकट से उत्पन्न यातना जितनी 'आधे–अधूरे' नाटक में लक्षित होती है उतनी मोहन राकेश के अन्य किसी नाटक में नहीं। इस नाटक में आधुनिक मध्यवर्गीय परिवारों की चेतना, संघर्ष और विद्रोह का यथार्थ अंकन हुआ है। यहाँ परम्परागत संस्कारशीलता और नैतिकता के बन्धनों के टूटने की कहानी है। कलहपूर्ण वातावरण और अभावग्रस्त अर्थव्यवस्था के कारण बौने बने व्यक्तियों के क्षोभ,

आक्रोश और सन्त्रास का चित्रण है। उनकी दिशाहीनता निरर्थकता और अस्तित्व के संघर्ष करते–करते अन्त में टूटने की करुण गाथा है। उसके पात्र आन्तरिक व्यक्तित्व के अनुरूप परिस्थितियों के भीतर अपनी–अपनी भूमिका चुनते हैं, छोटी–छोटी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए जीवन भर संघर्ष करते हैं लेकिन अन्त में विवशता और निरर्थकता की अनुभूति का दुर्निवार बोझ उन्हें तोड़ देता है। जिसे देख पाठक भी उनकी नियति के आसन्न संकट के बोझ से कांप उठता है। दर्शक और पाठक 'आधे–अधूरे' नाटक के माध्यम से भारतीय शहरों में रहने वाले उन लाखों मध्यवर्गीय परिवारों की कहानी देखता पढ़ता है जो एक गहरी पीड़ा को संजोये सपने–देखने और टूट कर बिखर जाने के लिए अभिशप्त हैं।

6.4 सारांश

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि पात्रों और परिस्थितियों की टकराहट जिन्दगी को अनिश्चय की ऐसी मानसिकता से भर देती है कि जिन्दगी जहाँ से शुरू हुई थी, वहीं पहुँच जाती है। इस प्रकार आधुनिक मध्यवर्गीय परिवारों के प्रत्येक स्तर पर राजयक्ष्मा का रोग घर कर गया है जिससे मुक्ति अत्यन्त कठिन है। मोहन राकेश का यह नाटक आधुनिक भाव बोध में पूरी तरह रचा बसा है और मध्यवर्गीय जीवन की त्रासद प्रस्तुति करता है।

6.5 कठिन शब्द

1. प्रतिवाद	2. रिक्तता	3. विसंगति	4. दुर्निवार	5. कुण्ठित
6. यन्त्रणा	7. विक्षिप्त	8. अनर्गल	9. सन्त्रास	

6.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'आधे–अधूरे' नाटक में आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। इस कथन के आलोक में इसकी समीक्षा कीजिए।

आधे–अधूरे नाटक के संदर्भ में मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों की पड़ताल करें?

दाम्पत्य जीवन के द्वंद एवं तनाव के बच्चों पर पडने वाले प्रभाव को 'आधे–अधूरे' नाटक के आलोक में स्पष्ट करें।

6.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. आधे-अधूरे – मोहन राकेश
2. आधे-अधूरे: संवेदना और शिल्प – सिद्धनाथ कुमार।
3. मोहन राकेश और उनके नाटक – गिरीश रस्तोगी।
4. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक – नेमिचन्द्र जैन।

....

'आधे–अधूरे' की पात्र परिकल्पना

7.0 रूपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3. 'आधे–अधूरे' की पात्र परिकल्पना

7.3.1 सावित्री अर्थात् स्त्री

7.3.2 महेन्द्रनाथ अर्थात् पुरुष एक

7.3.3 बिन्नी अर्थात् बड़ी लड़की

7.3.4 किन्नी अर्थात् छोटी लड़की

7.3.5 अशोक अर्थात् लड़का

7.3.6 अन्य पात्र

7.3.7 सिंघानिया अर्थात् पुरुष दो

7.3.8 जगमोहन अर्थात् पुरुष तीन

7.3.9 जुनेजा अर्थात् पुरुष चार

7.4. सारांश

7.5 कठिन शब्द

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.7. सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

7.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. 'आधे–अधूरे' नाटक की पात्र परिकल्पना को जान सकेंगे।

2. आधे–अधूरे एक चरित्र प्रधान नाटक है इससे अवगत हो सकेंगे।

7.2. प्रस्तावना

मोहन राकेश के सभी नाटकों में नाट्य वस्तु पुरुष पात्र से जुड़ी है, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि केन्द्रीय चरित्र स्त्री बन जाती है। चाहे वे 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के कालिदास और मल्लिका हों, या 'लहरों के राजहंस' के नन्द और सुन्दरी अथवा 'आधे–अधूरे' के महेन्द्रनाथ–सावित्री हों। इन सभी नाटकों में स्त्री को छोड़कर पुरुष जाने के लिए विवश है। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' नाटकों में क्रमशः कालिदास और नन्द एक बार वापिस आकर दुबारा लौट जाते हैं, किन्तु 'आधे–अधूरे' का महेन्द्रनाथ वापिस आता तो है, किन्तु लौटता नहीं है और सावित्री के साथ अनचाहे रूप में रहने की विवशता ही उसे आधुनिक बनाती है।

7.3. 'आधू–अधूरे' की पात्र परिकल्पना

'आधे–अधूरे' में पात्रों के नाम बेशक दिये गये हों लेकिन वे एक संज्ञा–मात्र नहीं, बल्कि हममें से कोई भी हो जाते हैं अथवा हो सकते हैं। पात्र परिकल्पना में मोहन राकेश के रचनात्मक व्यक्तित्व, उनकी छटपटाहट और मान्यताओं का पूरा दस्तावेज ढूँढ़ा जा सकता है। मोहन राकेश जीवनानुभवों और व्यक्तिगत सम्बन्धों के इतिहास को अलग–अलग नामों और परिस्थितियों के माध्यम से पुनरावृत्त करते हैं। यही कारण है कि 'आधे–अधूरे' तक आते–आते वे पात्रों को नाम देने के बावजूद पुरुष एक, दो, तीन, चार, स्त्री, बड़ी लड़की, छोटी लड़की, लड़का जैसे सम्बोधनों का निर्वाह करते हैं। 'आधे–अधूरे' नाटक में पात्रों की स्थिति के आधार पर आकलन करते हुए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्त्री अथवा सावित्री ही लगती है।

7.3.1 सावित्री अर्थात् स्त्री :

आज़ादी के बाद अचानक स्त्रियों की स्थिति में एक बड़े विस्फोट के रूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ जैसे स्त्री–शिक्षा, मतदान का अधिकार, घर की चारदीवारी से बाहर निकलना, स्त्री–पुरुषों की समानता का नारा, संयुक्त परिवारों के विघटन से एक व्यक्ति के रूप में उसकी पहचान, आर्थिक स्वावलंबन आदि। 'आधे–अधूरे' समकालीन नाटक है। सन् साठ के बाद प्रकाशित सभी साहित्यिक विधाओं (गद्य–पद्य) में इस बदले तेवर को देखा जा सकता है। इस नाटक का केन्द्रीय चरित्र अथवा कहना चाहिए केन्द्रीय धुरी सावित्री है।

सावित्री अर्थात् स्त्री दीन–हीन और आत्मसमर्पण करने वाली नारी नहीं बस अपने अहं एवम् स्वाभिमान को सुरक्षित रखने वाले स्वाबलम्बी चरित्र का पर्याय है। सारे परिवार के बोझ को झेलती हुई भी वह अपनी इच्छाओं को लादने की क्षमता रखती है क्योंकि वह परिवार का आर्थिक केन्द्र बिन्दु है और परिवार के सभी सदस्य पति–महेन्द्रनाथ, बड़ी लड़की–बिन्नी, छोटी लड़की किन्नी और लड़का–अशोक उसकी कमाई से ही पेट

भरते हैं। इस नाटक में एक छाया या नियति से सभी चरित्र घिरे हैं किन्तु सावित्री ऐसी नारी कि सभी कुछ को नियति मानकर स्वीकार करती चली जाती है हालांकि इसकी शिकार वह भी होती है फिर भी वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व, अपनी पहचान और सभी उपभोगों की तलाश में जुटी है। अपनी इच्छा पूर्ति हेतु प्रयत्न की प्रक्रिया में वह अपने ही मन के पीछे मृगतृष्णा की भाँति भटकती रहती है। इस क्रम में वह ऐसे लोगों से सम्पर्क करती है जिनमें कुछ विशेष हो, जिनके पास डिग्री हो, कार हो, पद हो। वह आधुनिक परिवेश के बोझ को झेलती हुई भावुक नहीं होती बल्कि यथार्थ दृष्टिकोण अपनाए रखती है। वह मध्यवर्ग के परिवार की आवश्यकताओं और महत्त्वाकांक्षाओं के बीच घड़ी के पेन्डुलम की भाँति दोलायमान रहती है।

सावित्री आधुनिक स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है जिसे अपने परिवार का संचालन करना है, बेटे को नौकरी पर लगाना है, पति के नकारेपन को झेलना है, परित्यक्ता बेटी को नया जीवन देना है, छोटी लड़की की बदमिजाजी को सहना है और इन सबके बीच स्वयं को संतुलित भी रखना है। परिवार की आर्थिक तंगी और तद्जनित तनाव तथा परिवार के सदस्यों की लापरवाही, तिरस्कार और उपेक्षा उसे कटु और उन्मुक्त बनाने के लिए काफी है। वह अनुभव करती है कि कोई उसे ठीक से समझ नहीं पा रहा। उसकी हैसियत सिर्फ आटा पीसने वाली मशीन के बराबर है जो सबके लिए आटा पीस–पीस कर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है।

सावित्री का बड़े लोगों से सम्बन्ध बनाना उसकी यौनेच्छा का परिणाम नहीं है बल्कि घर को आर्थिक तंगी से उबारने के कारण है ताकि किसी तरह सब का कुछ बन सके। इस घर का बोझ कोई और भी ढोने वाला हो। इसीलिए वह कहती है, 'अगर मैं कुछ खास लोगों के साथ सम्बन्ध बनाकर रखना चाहती हूँ तो अपने लिए नहीं तुम लोगों के लिए।' दूसरे छोर पर वह इन सम्बन्धों को पूर्ण पुरुष की तलाश में बनाती है। उसे महेन्द्र के रूप में एक अधूरा इन्सान मिलता है। इसी पूर्णता की खोज में वह सिंघानिया, जगमोहन से सम्पर्क करती है। उसकी महत्त्वाकांक्षायें महेन्द्र को हीन भावना से ग्रस्त कर देती हैं और बच्चों को उच्छृंखल बना देती हैं। वह स्वयं भी त्रस्त और बैचेन है क्योंकि समझ नहीं पाती कि क्या करे ? पति के प्रति बढ़ती उसकी घृणा परिवार में अनेक विकृतियों को जन्म देती है। वह अपने अधूरेपन को भर नहीं पाती और पूर्णता की खोज ही उसकी भटकन का कारण बन जाती है। उसकी इस स्थिति से जुनेजा अवगत कराता है, 'महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिन्दगी में तो साल दो साल बाद तुम यही अनुभव करती कि तुमने एक गलत आदमी कर लिया है... क्योंकि तुम्हारे जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह मिल न पाता। इन तर्कों से हारकर सावित्री छोटी लड़की को पीट बैठती है और इस प्रकार मोहन राकेश मनोवैज्ञानिक आधार पर इस चरित्र की रचना करते हैं। यही वह बिन्दु है जहाँ वह अनुभव करती है, 'सब के सब... एक से बिल्कुल एक से हैं आप लोग। अलग–अलग मुखौटे, पर चेहरा ? पर चेहरा ? सब का एक ही है।' फिर

भी वह सोचती रही कि चुनाव कर सकती है। महेन्द्रनाथ के जाने पर उसे लगता है कि शायद वह पूर्णता और सुख का रास्ता ढूँढ सकती है, किन्तु अशोक के साथ महेन्द्रनाथ का लड़खड़ाते हुए लौट आना उसकी इस उम्मीद पर भी पानी फेर देता है।

सावित्री नौकरीपेशा स्त्री है। जिसकी उम्र चालीस को छूती अधेड़ की श्रेणी में पहुँच गयी है किन्तु चेहरे पर यौवन की चमक और चाह बनी हुई है। वह निकम्मे, लिजलिजे पति के प्रति घृणा से भरी टूटे–फूटे घर की आधी–अधूरी जिन्दगी से ऊबकर पिछले 20–22 सालों से अपने काल्पनिक 'एक पूरे आदमी' की तलाश में इधर–उधर भटक रही है। इस प्रक्रिया मे वह बार–बार छली जाकर महेन्द्रनाथ के पास लौट आने के लिए अभिशप्त है।

दाम्पत्य जीवन के प्रारम्भिक दो वर्षों के भीतर ही उसे पति 'पूरे आदमी' की बजाय आधे–चौथाई से भी कम, लिजलिजा–चिपचिपा–सा नजर आने लगता है और पूरे आदमी की तलाश में सबसे पहले उसके सामने आता है महेन्द्र का मित्र जुनेजा, जो पैसे वाला किन्तु काइयां किस्म का है। जुनेजा के साथ पटरी नहीं बैठने पर वह शिवजीत तक पहुँचती है। जिसके पास बड़ी डिग्री, बड़े–बडे शब्द और पूरी दुनिया घूमने का अनुभव है, लेकिन वह दोगले किस्म का इन्सान निकला। उसके बाद जगमोहन, जिसके ऊँचे सम्बन्ध, जबान की मिठास, टिपटॉप रहने की आदत और खर्च करने की दरियादिली के बावजूद सावित्री उसके साथ अधिक समय तक निभा नहीं सकी क्योंकि उससे शिकायत थी कि वह सब लोगों पर एक–सा पैसा क्यों लुटाता है। दूसरे की सख्त से सख्त बात को एक मुस्कुराहट के साथ क्यों पी जाता है। अन्तिम कोशिश वह मनोज के बड़े नाम को पकड़कर कहीं पहुंचने की करती है किन्तु वह उसकी बेटी बिन्नी को लेकर भाग जाता है। इस आघात से वह पगला सी जाती है और बेटे की नौकरी के बहाने अपने बॉस सिंघानिया से सम्पर्क बनाती है। इस चक्रव्यूह से बाहर निकलने का मौका नही पाकर वह पीछे अर्थात् जगमोहन के पास लौटती है किन्तु वह जगमोहन जो कभी उसके साथ जीवन बीताने को लालायित था, अब अपने घर–परिवार की जिम्मेदारी और सावित्री की अधेड उम्र को देखकर पीछे हट जाता है। इस प्रकार वह अपने अनचाहे घर और पति के गिर्द चक्कर लगाने के लिए विवश हो जाती है।

सम्पूर्ण नाटक मे दो बातें सावित्री के चरित्र को नियंत्रित और संचालित करती हैं–एक वैवाहिक बन्धन से प्राप्त आधे–अधूरे लिजलिजे पति से मुक्ति की आकांक्षा और दूसरा, आर्थिक समस्या सुलझाने का प्रयत्न। इन दोनों सीमाओं के कारण उसके चरित्र की परिकल्पना में पुनरावृत्ति मिलती है। जैसे कि पुरुष दो, तीन, चार से मिलना और सम्बन्ध का टूटना नीरसता पैदा करता है। इस प्रकार सावित्री के व्यक्तित्व मे बेहद एक इकहरापन है। वह शुरू से अन्त तक ऊबी, टूटी, थकी, चिड़चिड़ाहट से घिरी दिखाई देती है। वह नाटक के शुरू में ही इतना कुछ भोग चुकी है कि नाटक की शुरुआत टूटे–फूटे वातावरण, चिड़चिड़ाहट और जहरीली हवा से होती है। भावनाएं, संवेदनाएं, आत्मीय सम्बन्ध उसके लिए कोई महत्त्व नही रखते। सम्भवतः मोहन राकेश उसे भावुक बनाना ही नहीं चाहते और उसकी ऊब, घुटन उसके प्रयत्नों, स्थितियों को जिन्दगी से उभारकर सामने लाना चाहते हैं।

7.3.2 महेन्द्रनाथ अर्थात् पुरुष एक :

आधुनिक नाटक को संस्कृत नाट्य परम्परा के आधार पर नहीं आंका जा सकता। समकालीन नाटक का नायक धीरोदात्त, सर्वगुण सम्पन्न, राजकुल में उत्पन्न नहीं बस अपने आप में पंगु, अभिशप्त जिन्दगी जीने वाला अधूरा आदमी है। आज के मशीनी युग में जबकि मनुष्य एकाकी हो गया है, महेन्द्रनाथ भी भरे–पूरे घर में तिरस्कृत होने के लिए ठहरा है। यह व्यक्ति बेरोजगार होकर जीवन की कड़ुवाहट का शिकार हो गया है। महेन्द्रनाथ बिखराव, तनाव, विक्षोभ, घुटन भरे जीवन को, फाईलों को झाड़ने मात्र से ही बदल देना चाहता है। लेकिन उसकी नियति घर लौटने में होती है। आधुनिक मानव की नियति टूटे घर तक लौट आने में है। महेन्द्रनाथ नियति का दास है। वह कहीं भी स्थितियों से बाहर निकलने की कोशिश नहीं करता। उसका निठल्ला बैठना आकस्मिक नहीं। आज बेरोजगारी से जूझता व्यक्ति आक्रोश और कुण्ठा का शिकार होने के लिए बाध्य है। यह आधुनिक जीवन का ऐसा व्यक्ति है जिसकी सारी अस्मिता समाप्त हो चुकी है और जो परिस्थिति के आगे घुटने टिकाकर फालतू आदमी का जीवन जीता है।

महेन्द्र शुरू से अपने परिवार के लिए 'रबड़–स्टैम्प' नहीं था उसका द्विआयामी व्यक्तित्व है। वह बेरोजगार हुआ है जुनेजा के साथ व्यवसाय में असफलता के कारण और अब लिजलिजा–सा बन गया है। एक समय था जब वह चहकता था, उमंग से भरकर हंसता था, दोस्तों का चहेता और पार्टी–पिकनिक की रौनक था। आज पत्नी की कमाई से रोटियाँ तोड़ता है। पत्नी के परिचितों अथवा पुरुष मित्रों के आने पर चुपचाप घर से चला जाता है। मन की कटुता को सहने में असमर्थ वह पत्नी को व्यंग्य–बाणों से, मारपीट से छलनी करता है। साथ ही उसमें अपने परिवार और पत्नी के प्रति प्रेम भी है। इसीलिए मन ही मन पत्नी की दासता स्वीकार लेता है क्योंकि उसके बिना उसे जीना असम्भव लगता है। दूसरी तरफ पत्नी का तिरस्कार और बच्चों की उपेक्षा उसे सनकी किस्म का बना देती है परिणाम स्वरूप उसमें कुण्ठाएँ जन्म लेती हैं। उसके मुँह पर पट्टी बांधकर कमरे में पीटता है। गुस्से से अपनी कमीज को आग लगा लेता है और दरिन्दा बनकर पत्नी के घुटने तोड़ता है। उसकी छाती पर बैठकर उसका सिर जमीन से रगड़ने लगता है। आज स्थिति यह है कि अपने ही घर पर उसे मालूम है कि उसकी क्या हैसियत है, 'इस घर में कि जो जब, जिस वजह से जो भी कह दे, मैं चुपचाप सुन लिया करूगाँ ? हर वक्त की धिक्कार, हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यहाँ मेरी इतने सालों की?' और उसे लगता है कि वह 'रबड़–स्टैम्प' के सिवाए कुछ भी नहीं है।

महेन्द्रनाथ में आत्म विश्लेषण की क्षमता है। सावित्री को जुनेजा नाटक के अन्त में आधा–अधूरा होने का कारण बताता है जबकि अकेला और खाली होने के कारण महेन्द्रनाथ मे यह क्षमता स्वयं आ जाती है। आत्मग्लानि के क्षणों में वह सोचता है, 'अपनी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। फिर भी इस घर से चिपका हूँ, क्योंकि अन्दर से मैं आरामतलब हूँ, घर–घुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में जंग है....। मुझे पता है कि मैं एक कीड़ा हूँ जिसने अन्दर ही अन्दर इस घर को खा लिया है'। पत्नी द्वारा उसे लिजलिजा घोषित करना और जुनेजा का मानना कि महेन्द्रनाथ हर आदमी जैसा एक आदमी कहीं–न–कहीं इस चरित्र के प्रति सहानुभूति पैदा

करता है। जिस तरह से वह नाटक के अन्त में ब्लड प्रेशर का शिकार होकर लड़खड़ाता है उसमें यह संकेत भी छिपा है कि यह आदमी अब कभी अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता है और पत्नी के ताने खाने के लिए विवश है। इस प्रकार महेन्द्रनाथ हीन भावना से ग्रस्त, बेरोजगार, पत्नी की कमाई खाने वाला आधा–अधूरा आदमी है।

7.3.3 बिन्नी अर्थात् बड़ी लड़की

'आधे–अधूरे' नाटक में पति–पत्नी के तनाव के बीच बालकों के मानसिक, भावनात्मक विचार कैसे धुंधला जाते हैं, इसे तीनों बच्चों बिन्नी, किन्नी और अशोक में देखा जा सकता है। बड़ी लड़की बिन्नी अपनी ही माँ के प्रेमी मनोज के साथ अनजाने में विवाह कर बैठती है। बाद में इस स्थिति से अवगत होने पर एक ग्लानि का भाव उसमें भर जाता है और दूसरे अपने मायके में भी उसे आदर्श दम्पत्ति की पहचान नहीं मिल सकी। परिणाम यह हुआ कि एक हवा–सी, एक छाया सी बिन्नी और मनोज के दाम्पत्य जीवन में घुस जाती है।

बिन्नी अस्थिरता और असुरक्षा की शिकार है। यह प्रकृति उसे अपनी माँ सावित्री से मिली है मानो स्त्री की यह नियति है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलती है। माँ की भाँति घर के विषैले वातावरण से भागकर पूर्णता की तलाश में वह मनोज से विवाह करती है लेकिन कुछ ही समय में महसूस करती है कि एक अज्ञात दीवार उन दोनों के बीच आ खड़ी हुई है। वह स्पष्ट नहीं कर पाती है उसे मनोज से किस बात से शिकायत है। बस इतना ही कह पाती है, 'शादी से पहले मुझे लगता था कि मैं मनोज को बहुत अच्छी तरह जानती हूँ। पर अब आकर... अब आकर लगने लगा है कि वह जानना बिल्कुल जानना नहीं था।' महेन्द्र–सावित्री के तनाव का बड़ा महत्त्वपूर्ण कारण महेन्द्र का नकारापन था लेकिन मनोज की तो आर्थिक स्थिति अच्छी है फिर बिन्नी के तनाव का कारण क्या हो सकता है। सम्भवतः यह स्त्री पुरुष सम्बन्धों की टूटन ही है जो यहाँ भी आड़े आती है। बिन्नी मानती है कि छोटी–छोटी बातें जैसे चाय का गिर जाना, दफ्तर से मनोज का थोड़ी देर से लौटना, से लड़ाई कर बैठती है। एक गुबार सा उसके भीतर भरा रहता है और वह इस इन्तजार में रहती है कि कब कोई बहाना मिले और वह उसे बाहर निकाले।

7.3.4 किन्नी अर्थात् छोटी लड़की

किन्नी के भाव, स्वर, चाल हर चीज में विद्रोह का भाव है। खीज और असन्तोष व्यक्त करने में वह बड़ी लड़की की सहायता करती है। किशोरावस्था की ओर कदम रखती किन्नी 12–13 वर्ष की उम्र से ही कैसोनोवा पढ़ने और स्त्री पुरुष के सम्बन्धों में रूचि लेने लगती है। वह अत्यन्त चिड़चिड़ी, मुँहफट और जिद्दी है। वह अपमानित होकर स्वयं को भीतरी कमरे में बन्द कर लेती है और बाहर नहीं आना चाहती। सावित्री के पुरुष मित्रों, महेन्द्र–सावित्री के झगड़ों, अशोक के मारे–मारे फिरने से उसे नफरत है। ऐसे वातावरण में स्वयं को उपेक्षित पाती है और अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए सैण्डविच को जला कहकर थूकती है। उसका बिखरा हुआ बस्ता, फैले हुए कपड़े उसके विद्रोह को अभिव्यक्त करते हैं।

7.3.5 अशोक अर्थात् लड़का

अशोक के चरित्र में एक खास तरह की कड़वाहट झलकती है। वह असन्तुष्ट और कुण्ठित आधुनिक युवा वर्ग की मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है। माता–पिता के टूटते सम्बन्धों और माँ के पराए मर्दों से बढ़ते सरोकारों को देख वह घर में बेगानापन महसूस करता है। वह आधुनिक खण्डित परिवार और माता–पिता के ठण्डे पड़ते भावों का प्रभाव लिए मारा–मारा फिरता है। 21 वर्षीय अशोक पिता की परिणति देखने के बावजूद निकम्मा है इसीलिए उसकी सहानुभूति पिता के प्रति है और पिता की भाँति सावित्री के प्रति घृणा है। उसके लिए माँ के पुरुष मित्रों से सम्बन्ध उसकी वासना का परिणाम है, परिवार को चलाने की कोशिश नहीं।

जीवन के यथार्थ से मुँह मोड़कर अभिनेत्रियों की तस्वीरों, अश्लील पुस्तकों, वर्षा के प्रेम के सहारे दिन काट रहा है। 'अन्तराल–विकल्प' से पूर्व सिमट कर विलीन होते प्रकाश और डूबते संगीत के साथ कैंची से कटती तस्वीरों की लगातार चक्–चक्–चक् की आवाज़ जैसे उसकी उकताहट, निरर्थक पलों को अभिव्यक्त करती है। एक आक्रोश और अव्यक्त घृणा के कारण यह चरित्र भी अकेला लेकिन बौखलाया रहता है। अन्त में लड़खड़ाते पिता को सहारा देने में जैसे नाटककार ने अशोक के भविष्य को संकेतित कर दिया है कि उसे धरोहर में मिलेगा तो एक लड़खड़ाता, अपंग भविष्य और निरर्थकता का अहसास कराने वाला संसार। अशोक माँ की कमाई पर निर्भर है लेकिन उसकी पुरुष मानसिकता माँ पर अधिकार जताते हुए उसे व्यभिचारिणी घोषित करने से चूकती नहीं है।

7.3.6 अन्य पात्र

नाटक की प्रस्तावना में ही स्पष्ट किया गया है कि काले सूट वाला आदमी ही पुरुष एक, दो, तीन, चार की भूमिका निभा रहा है। यह नाटक व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि 'सड़क पर टकराने वाले किसी भी व्यक्ति का हो सकता है। नेमीचन्द्र जैन एक ही व्यक्ति से पांच भूमिकाएँ कराना सम्भव नहीं मानते लेकिन नाटक के प्रदर्शन ने उनकी शंकाओं को झूठा कर दिया और नाटक अभिनेता के लिए चुनौती के रूप में सामने आया। पुरुष दो, तीन, चार–पुरुष एक (महेन्द्रनाथ) के ही विभिन्न रूप हैं। मुखौटे सबके अलग मगर चेहरे सबके एक से हैं। पुरुष दो सिंघानिया, पुरुष तीन जगमोहन और पुरुष चार जुनेजा। काले सूट वाला आदमी सूत्रधार है और वही विभिन्न भूमिकाओं में आता है। अपने आप से सन्तुष्ट किन्तु फिर भी आशंकित सिंघानिया, अपनी सुविधा के लिए जीने में विश्वास रखने वाला जगमोहन, चेहरे पर बुर्जगी का अहसास और काइयांपन लिए जुनेजा–ये सभी वास्तव में जिन्दगी से लड़ाई हार चुकने की भावना से छटपटाते, संघर्ष के लिए अक्षम, खोखले, पलायनवादी, कुण्ठाओं की गठरी महेन्द्रनाथ के ही अलग–अलग रूप हैं। काले सूट वाले व्यक्ति में ही इन चारों का प्रादुर्भाव केवल शिल्पगत नवीन प्रयोग की चाह भर नहीं है बल्कि नाटक में एक ही व्यक्ति के विभिन्न विभाजित अंशों को प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत करने की अनिवार्यता है।

7.3.7 सिंघानिया अर्थात् पुरुष दो

सिंघानिया कामुक प्रवृत्ति वाला सावित्री का बॉस है। सत्ता और अधिकार का दुरुपयोग वह स्त्री पर गलत नज़र डालकर करता है। वह ऐसा अधिकारी है जो दफ्तर में काम करने वाली महिलाओं को वासना–पूर्ति का माध्यम मानता है। अपनी कामुक प्रवृत्ति के कारण वह अशोक की नौकरी के बहाने बिन्नी में रुचि लेता है और उसी की नौकरी की बात करता है। सावित्री से तो फूहड़ता की हद तक अश्लीलता से पेश आता है, 'तुम घर पर आओ किसी दिन। बहुत दिनों से नहीं आई'। कामुकता के साथ–साथ उसमें बनावटीपन भी ज्यादा है। वह आत्म प्रशंसक इतना है कि बात करते समय तारतम्य भी भूल जाता है। सावित्री के घर पर अशोक की नौकरी के बहाने आता जरूर है लेकिन उसकी नौकरी का मसला भूल कर बेसिर–पैर की बातें करता है, 'पूरा यूरोप घूमा पर जो बात मुझे इटली में मिली वह और किसी देश में नहीं। इटली की सबसे बड़ी विशेषता पता है, क्या है... बहुत ही स्वादिष्ट है। कहाँ से लाती हो? (घड़ी देखकर) सात पाँच यही हो गये। तो....।' इस प्रकार सिंघानिया महिला कर्मियों का दोहन–शोषण करने वाला, आत्म–प्रवंचक अधिकारी है।

7.3.8 जगमोहन अर्थात् पुरुष तीन

जगमोहन के पास ऊँचे सम्बन्ध, जुबान की मिठास और खर्च करने की दरियादिली है किन्तु वह एकनिष्ठ नहीं है। कभी सावित्री के लिये प्रेम रखने वाला जुनेजा समय के साथ बदल जाता है। अपनी पत्नी और बच्चों के प्रति जिम्मेदारी तथा सावित्री की अधेड़ होती उम्र से वह पीछे छूट जाता है और सावित्री को लगता है सब पुरुष एक जैसे हैं। सिंघानिया और जगमोहन में अन्तर यह है कि सिंघानिया अपनी कामुकता को छिपा नहीं पाता जबकि जगमोहन पारिवारिक उत्तरदायित्व की आड़ लेकर बच जाता है और विश्वासघात करता है।

7.3.9 जुनेजा अर्थात् पुरुष चार

महेन्द्र के प्रति सावित्री के तिरस्कार का बहुत महत्वपूर्ण कारण जुनेजा है जिसके कारण महेन्द्र का व्यवसाय डूब गया और वह निकम्मा, नकारा कहलाया जाने लगा। महेन्द्र का मित्र जुनेजा है। वह व्यवसायी है किन्तु नाटक के अन्त में मनोविश्लेषक की भूमिका निभाता है जब सावित्री के आधे–अधूरे होने का स्पष्टीकरण करता है कि उसने सब कुछ को एक साथ पाना चाहा, 'असल बात इतनी ही है कि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिन्दगी में तो साल दो साल बाद तुम यही महसूस करती कि तुमने एक गलत आदमी से शादी की है। ऐसा लगता है कि वह नेपथ्य के पीछे से सब कुछ देखता रहता है और समय आने पर महेन्द्र–सावित्री की कुण्ठाओं पर प्रकाश डालता है। नाटक के प्रारम्भ में सावित्री के अनुसार जुनेजा एक मक्कार, विश्वासघाती और घर–फोड़ा आदमी है किन्तु सावित्री की कुण्ठाओ से परिचित होने के बाद वह महेन्द्र का मित्र और शुभचिन्तक साबित होता है। उसके प्रति उसकी आस्था और विश्वास है कि 'सभी आदमी एक जैसे होते हैं' महेन्द्र सोचता है कि हो सकता है कोई नया कारोबार चलाने की सोच रहा हो, जिसमें मेरे लिये भी कोई काम हो। जबकि सावित्री उसे विश्वासघाती मानती है। दरअसल सावित्री का ऐसा मानना जुनेजा के

प्रति उसके अतृप्त प्रेम का परिणाम है। वह स्पष्ट करता है कि सबसे पहले सावित्री उसी के प्रति आकर्षित हुई थी। इस खुलासे से वह चौंकती है और स्वयं को 'बिल्कुल बच्ची' कहकर बचना चाहती है। नाटक में जुनेजा पाठक या दर्शक की सरलता की दृष्टि से विभिन्न ग्रन्थियों को खोलने का माध्यम बनता है। इसके अतिरिक्त जिन पात्रों के सीधे–सीधे केवल नाम ही आते हैं वे हैं–मनोज, शिवजीत, सुरेखा, वर्णा। लेकिन नाटक में इनकी कहीं भी प्रत्यक्ष उपस्थिति नहीं है।

ये सभी पात्र महेन्द्रनाथ के अलग–अलग मुखौटे बनकर एक जीवन चरित्र की सृष्टि करते हैं। एक कलाकर से चार भूमिकाएँ कराने के पीछे यही बुनियादी बात है। विशिष्ट को सामान्य बनाने के लिये ही मोहन राकेश ने प्रारम्भ में जातिवाचक और बाद में व्यक्ति वाचक नामों का प्रयोग किया है। यहाँ पात्र व्यक्ति के रूप में एक इकाई नहीं अपितु अपनी सामूहिकता में वर्गीय चरित्र बन गये हैं। अपनी जीवन्त वास्तविकता में 'आधे–अधूरे' की पात्र परिकल्पना विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित अपने परिवेश तथा समूह की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करती है।

7.4. सारांश

आधुनिक जीवन संघर्षों को भोगते हुए नाटक के पात्र यदि एक ओर वैयक्तिक धरातल पर सही हैं, तो दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से उनका अस्तित्व अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। क्योंकि व्यक्ति और समाज के घात–प्रतिघात से वह जीवन की जिन विसंगतियों को भोग रहे हैं, उसी वैषम्यमूलक द्वन्द्व से आज का हर व्यक्ति गुजर रहा है। इसीलिए यहाँ चरित्र व्यक्ति नहीं 'टाइप' हैं। मोहन राकेश ने नाटकीय चरित्रों को 'टाइप' बनाने के लिए विशिष्ट नाम नहीं देकर, उन्हें जातिगत सम्बोधन दिया है, जैसे काले सूट वाला आदमी, पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन, पुरुष चार, स्त्री, बड़ी लड़की, छोटी लड़की और लड़का कहा है। स्पष्ट है कि नाटककार ने अपने चरित्रों को प्रतिनिधित्व की क्षमता प्रदान करने के लिए और उनके माध्यम से मध्यवर्गीय परिवारों की संवेदना से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करवाया है।

7.5 कठिन शब्द

1. स्वावलंबन	2. परित्यक्ता	3. तद्‌जनित	4. उच्छृंखल	5. परिकल्पना
6. पुनरावृत्ति	7. अभिशप्त	8. धीरोदात्त	9. निरर्थकता	10. व्यभिचारिणी

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'आधे–अधूरे' एक चरित्र प्रधान नाटक है, स्पष्ट करें।

2. सावित्री के चरित्र पर प्रकाश डालिए।

7.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. आधे–अधूरे – मोहन राकेश
2. आधे–अधूरेः संवेदना और शिल्प – सिद्धनाथ कुमार।
3. मोहन राकेश और उनके नाटक – गिरीश रस्तोगी।
4. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक – नेमिचन्द्र जैन।

*****

'आधे–अधूरे' की रंगमंचीयता

8.0 रूपरेखा

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 रंगमंचीय दृष्टि से 'आधे–अधूरे' नाटक

8.3.1 नाट्य भाषाः आधे–अधूरे की अन्यतम उपलब्धि

8.3.2 रंगमंचीयता के अन्य माध्यम

8.4 रंगमंचीय दृष्टि से 'आधे–अधूरे' की सीमाएँ

8.5 सारांश

8.6 कठिन शब्द

8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.8 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

8.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. रंगमंचीय दृष्टि से आधे–अधूरे नाटक का विश्लेषण कर सकेंगे।
2. आधे–अधूरे नाटक की भाषा की जानकारी प्राप्त करेंगे।
3. रंगमंचीयता की विभिन्न माध्यमों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
4. रंगमंचीय दृष्टि से आधे–अधूरे नाटक की सीमाओं को जान सकेंगे।

8.2. प्रस्तावना

नाटक अन्य विधाओं से इस दृष्टि से विशिष्ट एवं अलग है कि अन्य साहित्यिक विधाओं के प्रकाशन से ही रचनाकार संतुष्ट हो जाता है किन्तु नाटक की वास्तविक परीक्षा छपने के बाद होती है क्योंकि प्रत्येक नाटककार इस बात को ध्यान में रखकर नाट्य रचना करता है कि उसका नाटक पाठ्क के साथ दर्शक तक

पहुँचेगा। रंगमंचीयता का प्रश्न नाटक के मंचन से ही जुड़ा हुआ है। मोहन के सभी नाटक–'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे–अधूरे' और 'पैरों तले जमीन' (जिसे कमलेश्वर ने उनकी मृत्यु के पश्चात पूर्ण करके प्रकाशित करवाया) रंगमच की दृष्टि से बेहद सफल हुए हैं और चर्चा का विषय बने हैं।

6.3 रंगमंचीय दृष्टि से 'आधे–अधूरे' नाटक

'आधे–अधूरे' का प्रथम मंचन 1969 में हुआ। मंचन के साथ इस नाटक को लेकर दो विरोधी छोरों पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। मसलन 'आधे–अधूरे' की अन्यतम उपलब्धि इसकी भाषा है, हिन्दी नाटक की पहली गंभीर उपलिब्ध है, मध्यवर्ग का एकतरफा चित्रण है, एक ही अभिनेता से पांच भूमिकाएँ करवाना प्रशंसनीय है, अथवा उचित नहीं है, केवल स्त्री प्रमुख रूप से उभरी है, खुले प्रेक्षागृह मे नहीं खेला जा सकता है अथवा खेला जा सकता है–आदि–आदि तर्क दिए गए। इन विवादों के चलते हुए भी इतना स्पष्ट है कि मोहन राकेश के रंगमंचीय कौशल पर अंगुली नहीं उठाई जा सकती। कारण यह है कि मोहन राकेश एक–एक शब्द पर घण्टों नही दिनों तक ठहरे रह सकते है। स्वयं सन्तुष्ट हुए बिना नाटक छापने नही देते, प्रकाशन से पूर्व मित्रों को नाट्यालेख सुनाकर वांछित सुधार करते हैं। उनकी दृष्टि में लिखित नाटक के शास्त्रीय रूप की अपेक्षा नाटक का वह रूप घूमता है जिसे मंच पर प्रस्तुत होना है। ऐसे में उनकी दृष्टि संधियों, आदर्श नायक, प्रतिनायक जैसे पक्षों पर नहीं जाकर या कम जाकर उन कठिनाईयों और सीमाओं का अनुभव करती है जो मंचन के बीच आ सकती हैं। इनके समाधान का प्रयास ही मोहन राकेश की रंगमंचीयता का निर्णायक तत्व और कसौटी है। यही वह क्षेत्र है जहाँ वे सर्वाधिक मौलिक उद्भावनाऐं करते हैं।

'आधे–अधूरे' नाटक मंचन की दृष्टि से एकदम आधुनिक है। इसमे केवल उतने ही घण्टे की कथा है जितने घण्टे का नाटक है। इस दृष्टि से मंच पर कुछ भी बदलने की आवश्यकता नहीं है। केवल ध्वनि एवं प्रकाश की सहायता तथा सम्वादों के माध्यन से पूर्व घटित घटनाओं का बोध करा दिया गया है। दृश्य बन्ध और अभिनय संकेत के अलावा नाटककार ने वेशभूषा, ध्वनि, प्रकाश, सन्वाद अदायगी सम्बन्धी निर्देश कोष्ठक में मोटे शब्दों में दे दिए हैं जिससे नाट्य–निर्देशक एवं अभिनेता को सरलता हो गयी है। दूसरी तरफ इस संकेत को इस रूप में भी आलोचकों ने विश्लेषित किया है कि मोहन राकेश ने निर्देशक और अभिनेता हेतु मौलिक प्रदर्शन के अवसर न देकर उनके कार्य को जटिल बना दिया है।

'आधे–अधूरे' के रंग शिल्प में भाषा के रचनात्मक एवं जीवन्त प्रयोग इतने प्रबल हैं कि इसकी महत्वपूर्ण उपलिब्धा ही भाषा हो गई है। राकेश ने भाषा से केवल सम्वाद का ही काम नहीं लिया बल्कि वह स्थिति, चरित्र की मानसिकता और वातावरण को सजीव बनाने का महत्त्वपूर्ण उपकरण बनी है। नाट्य भाषा में सार्थक शब्दों के साथ–साथ ध्वनि, मौन, मुद्रा, क्रिया, मंच–सज्जा, संगीत, छायालोक के नाटकीय संश्लेष की उपलब्धि समाहित हुई है। इस प्रकार 'आधे–अधूरे– की रंगमंचीयता को मोटे तौर पर दो भागों में आंका जा सकता है। (1) भाषा (2) अन्य माध्यम (प्रकाश, ध्वनि, मंच सज्जा इत्यादि।)

8.3.1 नाट्य भाषा : 'आधे–अधूरे' की अन्यतम उपलब्धि :

मोहन राकेश जानने की भाषा के बजाय जीने की भाषा की ओर जाते हैं। इस प्रयास में उनकी नाट्य–भाषा मात्र साहित्यिक न रहकर जीवन, अनुभव और मंच से अधिक जुड़ती है। उनकी भाषा कोरी साहित्यिक या बोल–चाल की न होकर स्थितियो की विसंगतियो को अभिव्यक्त करने वाली है। इस प्रक्रिया में वे नाट्य–भाषा को खण्डित, विरूपित, सर्जित करते हैं। इस नाटक में समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ने की शक्ति, शब्दगत चयन, उनके क्रम, संयोजन, ध्वनियों के कारण हैं जो पात्रों के मनोविज्ञान, तल्खी, तेवर को उसी भंगिमा के साथ प्रस्तुत करता है। इस नाटक में हिन्दी भाषा के जीवन्त मुहावरे को पकड़ने की सार्थक कोशिश हुई है। पात्रों की गति से ज्यादा संवादों की गति को महत्व दिया गया है। संवाद कहीं अस्फुट हैं, कहीं लम्बे, कहीं छोटे, कहीं पूरे–पूरे पृष्ठ के हैं। संवादों को पात्रानुरूप रचा गया है। बिन्नी अपनी आयु के अनुकूल बोलती है, किन्नी–अशोक स्वभाव के अनुसार, सावित्री अनुभव के आधार पर और महेन्द्रनाथ झल्लाहट के साथ बोलता है। पूरे नाटक में आक्रोश की भाषा है। पुरुष एक की झल्लाहट और आक्रोश इस रूप से प्रकट होता है, 'किसे सुना सकता हूँ ? कोई है जो सुन सकता है? जिन्हें सुनना चाहिए वे सब तो एक रबड़ स्टैम्प के सिवा कुछ समझते ही नहीं मुझे। सिर्फ जरूरत पड़ने पर स्टैम्प का ठप्पा लगाकर... मैं इस घर में रबड़ स्टैम्प भी नहीं। सिर्फ एक रबड का टुकड़ा हूँ–बार–बार घिसा जाने वाला टुकड़ा।

इसी तरह की आक्रामकता सभी पात्रों के सम्वादों में है और सम्वादों का यह सैंदर्य रंगमंच पर छा जाता है। बाहरी स्थूल दृश्य तत्व यहाँ गौण हैं, सम्वाद और उससे उत्पन्न नाटकीयता ही प्रमुख है। आक्रोश से बुझे ये पात्र हमेशा प्रश्न की भाषा बोलते हैं। ये प्रश्न वाचक वाक्य नाट्य गति और पात्रों की द्वन्द्वात्मक स्थिति को अभिनय मे साकार करने में सहायक हुए हैं। अपने दाम्पत्य जीवन मे तनाव का कारण ढूंढती बड़ी लड़की माँ से पूछती है, 'तुम बता सकती हो ममा, कि क्या चीज है वह ? और कहा है ? वह ? इस घर की खिड़कियों दरवाजों में ? छत की दीवारों में ? तुममें ? डैडी में ? किन्नी में ? अशोक में ? कहाँ छिपी है वह मनहूस चीज़ ? जो वह कहता है मैं इस घर से अपने अन्दर लेकर गई हूँ ? बताओ ममा, क्या है वह चीज ? कहाँ पर है वह इस घर में ? यह राकेश की अपनी भाषा है, जो साधारण बोलचाल की होने के बावजूद हरकत से भरी हुई है। लिखित शब्द की यह शक्ति इस नाटक को बन्द और खुले प्रेक्षागृह में एक सम्मोहन के साथ मंचित करने का दम रखती है।

मोहन राकेश ने रंगमंच की शब्द निर्भरता को स्वीकार करते हुए शब्दों का उपयुक्त चयन करने के साथ उन्हें नाटकीयता से युक्त किया। उनके नाटकों में संकेत, शब्दों तथा उद्दीपक शब्दों के रूप में काम करते हैं। 'आधे–अधूरे' नाटक में घर, चाय, बॉस, आना–जाना, हवा, हलाक, आदमी, चेहरा, सोच, फैसला, अकल, अधूरा, खाली, भरना आदि शब्द विभिन्न विशेषणों के साथ भिन्न अर्थ छवियों को व्यक्त करते हैं। बहुत ही सामान्य शब्दों से अनुपस्थित अर्थ तत्व को व्यंजित करने की क्षमता मोहन राकेश में मिलती है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द पात्रों की मानसिकता और मनः स्थितियों के पुंज दिखाई देते हैं।

'आधे–अधूरे' नाटक में सामान्य सर्वनामों जैसे वह, इस उस, कोई आदि का अर्थपूर्ण प्रयोग हुआ है। सावित्री का अपने बॉस के लिए प्रयुक्त 'वह' (वह आज फिर आने वाला है थोड़ी देर में) शब्द एक अर्थ देता है जबकि उसी संदर्भ में लड़के की प्रतिक्रिया 'अच्छा... वह आदमी' ठीक दूसरे भाव को व्यक्त करती है। इसी प्रकार कोई, कौन, नया बहुत सामान्य शब्द हैं लेकिन जैसे स्त्री के चरित्र को खोल कर रख देते हैं :

स्त्री : अभी कोई आने वाला है बाहर से और।
बड़ी लड़की : कौन आने वाला है ?
पुरुष एक : सिंघानिया। इसका बॉस। यह नया आना शुरू हुआ है आजकल।

इसी प्रकार सामान्य सी क्रियाओं का नाटक में रंगमंचीय दृष्टि से अर्थगर्भित प्रयोग हुआ है। महेन्द्रनाथ किसी बात पर तिलमिलाकर खड़ा हो जाता है। इस पर सावित्री कहती है, 'खड़े क्यों हो गये ?' महेन्द्रनाथ 'क्यों मैं खड़ा नहीं हो सकता ? तब सावित्री का उत्तर 'खड़े तो हो सकते हो पर घर के अन्दर ही' खड़े होना क्रिया अद्भुत ध्वन्यार्थ से मण्डित होकर विशिष्ट अर्थ देने में सहायक है।

सर्वविदित है कि इस नाटक में खण्डित घर का बिम्ब उभरता है, जिसकी प्रस्तुति रंगमंचीय दृष्टि से की गयी है। घर में चीजों का बिखराव, कुर्सी पर लटकता पायजामा, बस्ते से बाहर निकली किताबें, टूटे कप–प्लेट, पर्दे, सोफे के फटे कपड़े जो अगर उतार दिये जाएँ तो शायद घर बेहतर लगे। इसी प्रकार पात्रों की मानसिकता को भी विभिन्न क्रियाओं से दिखाया गया है। ऐसे स्थलों पर क्रियाओं को शब्द या भाषा के पर्याय रूप में इस्तेमाल किया गया है। नपुंसक आक्रोश के लिए अखबार की रस्सी बनाना, खीझ और मूक विद्रोह के लिए पुरानी फाइलों को झाड़ना और पीटना, अकेले और निठल्लेपन की ऊब को दिखाने के लिए अलमारी से फाइलें गिराना, अवांछित स्थिति पर वश न चलने के लिए लड़के द्वारा पैण्ट में कीड़ा घुस जाने का अभिनय करना आदि क्रियायें भाषा में भराव का काम करती हैं।

नाटक की अर्थवत्ता और रंगमंचीय आकर्षण नाटकीय शब्दों के अन्तः सम्बन्ध और शब्दों की आन्तरिक बनावट करते हैं। ऐसे में अर्थ शब्द से नहीं बल्कि शब्द के भीतर या बीच से उभरता है और अर्थ के विभिन्न द्वार खुलते हैं :

स्त्री : वह इस वक्त तुमसे बात नहीं कर रही।
पुरुष एक : पर बात तो मेरे घर ही की हो रही है।
स्त्री : तुम्हारा घर ? ह ह !
पुरुष एक : तो मेरा घर नहीं है यह ? कह दो नहीं है।
स्त्री : सचमुच तुम अपना घर समझते हो इसे तो।
पुरुष एक : कह दो, कह दो, जो कहना चाहती हो।
स्त्री : दस साल पहले कहना चाहिए था मुझे... जो कहना चाहती हूँ।

पुरुष एक : कह दो अब भी इससे पहले कि दस साल ग्यारह साल हो जाँए।
स्त्री : नहीं होने पाएंगे ग्यारह साल... इसी तरह चलता रहा सब कुछ तो।

यहाँ रेखांकित शब्द संवादों की बुनावट में सहायक हुए हैं और अर्थ के विभिन्न सोपानों जैसे तनाव, कुढ़न, घृणा, बेबसी, अलगाव, विघटन आदि को एक साथ व्यंजित करते हैं।

'आधे–अधूरे' के नाटकीय शब्द पात्रों की धूर्तता, काइयांपन, चरित्रहीनता, दुराव–छिपाव जैसी वृत्तियों को रंगमंच पर बड़ी कुशलता से गति देते हैं। सिंघानिया और सावित्री के संवाद दोनों के चरित्रों का बेबाक चित्रण करने में सफल हुए हैं।

स्त्री : उस विषय में सोचा आपने कुछ।

पुरुष दो: किस विषय मे ? (मुहँ चलाता)

स्त्री : वह जो मैंने बात की थी आपसे कि कोई ठीक सी जगह हो आपकी नजर में तो–।

पुरुष दो: बहुत स्वादिष्ट है।

स्त्री : याद है न आपको ?

पुरुष दो: याद है ! कुछ बात की थी तुमने एक बार। अपने किसी कजिन के लिए कहा था–नहीं वह मिसेज मल्होत्रा ने कहा था। तुमने किसके लिए कहा था ?

स्त्री : (लड़के की तरफ देखकर) इसके लिए।

स्पष्ट है कि यहाँ पुरुष दो (सिंघानिया) का स्वार्थी, भोगवादी दृष्टिकोण, मानसिक विकृति सब मिलकर सावित्री के समक्ष ऐसी दीवार खड़ी कर देते हैं वे बात तो करते हैं किन्तु दोनों के सवादो की दिशाएं अलग–अलग हैं। आज का मानव जिस अन्तर्विरोध से गुजर रहा है वहाँ शब्द या तो बेमानी हो गए हैं या धोखा देने लगे हैं। नाटककार शब्दों के बीच छिपे अर्थ को उजागर करते हुए पात्रों के अन्तर्मन के दुराव को प्रकट करने का प्रयास करता है। भाषिक सामग्री एक होते हुए भी कोई दो पात्र एक जैसे संवाद नहीं बोलते। सिंघानिया और महेन्द्रनाथ अपने व्यक्तित्व में जितने अलग हैं, उतने ही अपने संवादों में भी भिन्न हैं। महेन्द्रनाथ की तल्खी, सावित्री की टूटन, अशोक का आक्रामक तेवर, सिंघानिया की लोलुपता–सभी संवादो में विभिन्नता होती है।

'आधे–अधूरे' में जहाँ भाषा अभिव्यक्ति के लिए तंग पड़ी है, वहीं मौन का सार्थक प्रयोग किया गया है। शब्दों के बीच की नीरवता साहित्य में सोद्देश्य हुआ करती है। इस नाटक में तनाव इतना अधिक है कि पात्रो की झल्लाहट, उकताहट के बीच मौन आना स्वाभाविक है। कई शब्दहीन स्थितियों में शब्दों से पहले और बाद का मौन अपनी अर्थवत्ता में कितना सक्षम होता है इसे मोहन राकेश भली–भाँति जानते हैं। पात्र के मौन को कहीं क्रिया और कहीं दृश्य से जोड़कर उन्होंने विलक्षण प्रभाव उत्पन्न किया है। एक और प्रकार का मौन

वहाँ है जहाँ शब्द चुक गए हैं और केवल दृश्य रह गया है। जैसे छोटी लडकी की पढाई सम्बन्धी शिकायत पर घर में खामोशी फैल जाती है। यह खामोशी घर के कटु यथार्थ का जीवन्त अहसास कराती है। बड़ी लड़की के यह पूछने पर कि वह कौन सी चीज है जिसे वह संस्कार रूप में इस घर से ले गई है, फिर से खामोशी छा जाती है। जिनसे प्रश्न पूछा जाता है, वे दूसरे की आँखों में उत्तर ढूँढते हैं और रिक्त पाने पर उत्तर का स्थान मौन ले लेता है। ऐसे स्थानों पर मौन अनकहे शब्दों और रिक्त स्थानों के द्वारा भाषागत क्षमता का बोध कराता है।

मोहन राकेश के अनुसार नाद के आरोह–अवरोह में शब्द का आन्तरिक नाटक निहित है। इसीलिए वे अपने संवादों में लय का ऐसा संयोजन करते हैं कि अभिनेता के बोलने के लहजे, स्वर शैली, आरोह–अवरोह (उतार–चढ़ाव) सब मिलकर एक अतिरिक्त अर्थ देने लगते हैं। यह लय शब्द के बाह्य संयोजन तक ही सीमित नहीं बल्कि उनके संवादों की लयात्मकता आन्तरिक अनुभूति और संवेगों पर आधारित होती है। जहाँ कहीं भी भावना की तीव्रता है वहीं लय है जो शब्दों–संवादों को एक निश्चित ढांचे में परस्पर जोड़ती है। लय के कारण 'आधे–अधूरे' के संवादो मे अद्‌भुत प्रवाह है :

बडी लडकी : तो तू सोचता है ममा जो कुछ भी करती है यहाँ...
लड़का : मैं पूछता हूँ क्यों करती हैं ? किसके लिए करती है ?
बडी लडकी : मेरे लिए करती थीं।
लड़का : तू घर छोड़कर चली गई।
बड़ी लड़की : किन्नी के लिए करती हैं।
लडका : वह दिन ब दिन बदतमीज होती जा रही है।
बड़ी लड़की : डैडी के लिए करती हैं।
लड़का : उनकी हालत देखकर रहम नहीं आता ?
बड़ी लड़की : और सबसे ज्यादा तेरे लिए करती हैं।
लडका : शायद मैं ही घर में सबसे ज्यादा नकारा हूँ।

यहाँ सम्वादों को बड़ी तीव्रता के साथ घटित किया गया है जो पाठक/दर्शक को अबाध बांधे रखते हैं।

रंगमंचीय दृष्टि से मोहन राकेश के नाटकों के अन्त मे आए संवादो की रंगमंचीयता पर प्रायः दोषारोपण किया जाता है। 'आधे–अधूरे' के अन्त में भी क्रिया–व्यापार कम, परिस्थिति और बात का विश्लेषण अधिक है। संवादों की सीमाओं के बावजूद उन्हें अनाटकीय अथवा अरंगमंचीय नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें गति और लय का अद्‌भुत संयोजन है। अन्त में इन लम्बे संवादों की उपलब्धि यह भी है कि वे भाव निवृत्ति प्रदान करते हैं और दर्शक/पाठक पर एक समग्र प्रभाव डालते हैं। इन लम्बे संवादों में गति, चिन्तन, द्वन्द्व, चेतना और आत्म–विश्लेषण की ऐसी मिश्रित योजना है जो नाटक को पूर्णता प्रदान करती है। पूर्ववर्ती सन्दर्भों से

जुड़कर ये लम्बे संवाद नेपथ्य में घटी घटनाओं और इतिवृत्तियों को जोड़ने के साथ संवेदना को भी जागृत करते हैं। अन्त तक आते–आते ये नाटक के दृश्य, प्रसंग और स्थिति को ऐसा मोड़ देते हैं कि मात्र एक–दो संवादों से ऐसी संवेदना जगती है कि सब कुछ नयी क्षमता ग्रहण कर लेता है। इस नाटक के अन्त में पुरुष एक का लौट आना, ड्योढी मे फिसलना और लड़के द्वारा 'देखकर डैडी' कहते हुए बाहँ पकडकर भीतर लाना ऐसी रंग युक्तियां हैं, जो पूर्ववर्ती लम्बे संवादों की ऊब को मिटा देती हैं।

समग्र रूप में 'आधे–अधूरे' की भाषा और इसके संवाद हिन्दी नाटक और रंगमंच की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में पहचाने गये हैं। संवादों के अधूरेपन, उनकी लयात्मकता और मौन के संचार से पात्रों में निहित व्यंग्य के तीखेपन का अहसास तीव्रता से होता है। नाटक के क्षेत्र में भाषागत जड़ता को इस नाटक के माध्यम से तोड़ा गया है। नाट्य भाषा की सम्पूर्ण संभावनाओं और आन्तरिक शक्तियों का इस्तेमाल यहाँ मुखरित रूप में हुआ है।

8.3.2 रंगमंचीयता के अन्य माध्यम :

भारतीय काव्यशास्त्र या संस्कृत नाट्य परंपरा में नाटक की सफलता के जो मानदण्ड निर्धारित किये गये हैं, उन पर समकालीन नाटकों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। युगीन संदर्भों के साथ वैज्ञानिक प्रयोगों ने रंगमंचीय सरोकार परिवर्तित किये हैं। जैसे प्रकाश योजना आधुनिक युग की ही देन है नाटक लोक जीवन से जुड़ने के कारण राजपुरुष की मर्यादा से बंधे नहीं रह सकते। इस प्रकार मोहन राकेश के नाटकों में भी रंगमंचीय प्रसाधन परिवर्तित और मौलिक रूप में प्रकट हुए हैं। नाटककार मोहन राकेश के भीतर एक निर्देशक भी साथ–साथ रहता है इसीलिए वे अपने नाटकों को रंग निर्देश, रंगचर्याओं से समन्वित करते चलते है जिससे कभी नाटक–निर्देशक गौण लगने लगता है। पात्रों की हरकतों, भाव प्रदर्शन के साथ प्रकाश और ध्वनि के सारे संकेत उनके नाटकों में मौजूद रहते हैं। यहाँ तक की प्रतीक और सांकेतिकता भी स्वंय नियोजित करते हैं।

'आधे–अधूरे' मे प्रतीकात्मक संकेत पूरे नाटक में मिलते हैं। कमरे में बिखरी चीजें परिवार के अलग–अलग सदस्यों की ओर प्रतीकात्मक संकेत करती हैं। कमरे में तीन तरफ से झांकने वाले तीन दरवाजे मानों तीन पुरुषों के संकेत हैं, जिनसे होकर स्त्री घर से भाग जाना चाहती है। अधटूटा टी सेट, फटी किताबें, टूटी कुर्सियाँ, चरित्रों के अधूरेपन तथा टूटते हुए पारिवारिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। प्रथम प्रवेश में स्त्री कई कुछ संभाले बाहर से आती है। 'कई कुछ' में कुछ घर का है, कुछ दफ्तर का, कुछ अपना है। इनके द्वारा घर, दफ्तर और अपने जीवन की उलझनों के बोझ से दबी स्त्री की दयनीय परिस्थिति की ओर मार्मिक संकेत हैं। विलीन होते हुए प्रकाश में अशोक द्वारा तस्वीर को चक–चक कर बड़े टुकडों में फाडना, जीवन में कटते हुए मानव मूल्यों और सम्बन्धों को व्यंजित करता है। बिन्नी द्वारा टीन का डिब्बा न खुल पाना संकेत करता है कि हर व्यक्ति उस बन्द माहौल से बाहर आना चाहता है लेकिन ऐसा नहीं कर पाता। किन्नी का कुण्डी बन्द कर लेना भी ऐसा है जैसे चारदीवारी मे बन्द होना। जगमोहन के साथ नया जीवन आरम्भ करने वाली स्त्री का ड्राउर खोलना, बन्द करना, चप्पल ढूंढना, पर्स में रूमाल ढूंढना, बार–बार रुकना, अहाते की ओर

देखना, ये सब उसकी मध्यवर्गीय असमंजस स्थिति का संकेत देते हैं। स्त्री के जाने पर कुछ क्षण मंच खाली, किन्नी का सिसकते हुए आना, सोफे पर औंधे लेटना, कमरे के खालीपन पर नज़र डालते हुए रोते–रोते जाना फिर मंच का खालीपन ये सारे रंग संकेत स्त्री के जाने के बाद घर की भयावह, दारूण, करुण स्थिति का संकेत करते हैं। चरित्रों की भावनात्मक स्थितियों और रंगमंच का तादात्म्य यहाँ संभव हो सका है।

भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में प्रकाश योजना द्वारा रंग सिद्धि का प्रयत्न होता है। दृश्य को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए किस कोण और किस स्थल पर कब किस प्रकार कितना प्रकाश डालना है इसका अच्छा बोध मोहन राकेश को है। 'आधे–अधूरे' के आरम्भ में पहले प्रकाश टूटे टी सेट और डाइनिंग टेबल को आलोकित करता है फिर फटी किताबों और टूटी कुर्सियों को। इसके बाद कभी इस कोने कभी उस कोने को, मानो नाटककार पूरे घर, दीवार, परिवार की जर्जरता दिखा देना चाहता है। स्त्री द्वारा घर छोड़ने के निर्णय से मानो घर की सत्ता ही विलीन हो जायेगी इसे प्रकाश के माध्यम से संकेतित किया गया है, 'प्रकाश आकृतियों पर धुंधला कर कमरे के अलग–अलग कोनों में सिमटता विलीन होने लगता है। मंच पर पूरा अंधेरा होने के साथ संगीत रुक जाता है।' इसी प्रकार जब महेन्द्र नाथ नाटक के अंत में घर लौटता है तो प्रकाश पहले दो आकृतियों को आलोकित करता है–स्त्री और बिन्नी को लेकिन जैसे ही महेन्द्रनाथ और अशोक दाखिल होते हैं दोनों स्त्रियों पर फैला प्रकाश मध्यम पड़ने लगता है मानो वह ग्रह है जो दोनों की खुशियों को निगल लेगा। महेन्द्र नाथ और उसकी बाँह पकड़े अशोक लगभग अंधेरे में आगे बढ़ते हैं और महेन्द्रनाथ की आकृति धुंधली है अर्थात प्रकाश योजना उसकी नियति को दर्शा रही है।

प्रकाश व्यवस्था के साथ मोहन राकेश ध्वनि योजना के महत्त्व से भी परिचित हैं (वातावरण के अनुसार ध्वनि विधान करने का बोध उन्हें है। पहले अंक में तनाव की चरमावस्था तथा संत्रास को 'एक खण्डर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत संकेत द्वारा व्यक्त किया गया है। मंच पर पूरा अंधेरा होने के साथ संगीत भी रूक जाता है। केवल कैंची की चक–चक ध्वनि सुनाई देती है जो पात्रों की टूटन, सम्बन्धों की निरर्थकता को व्यंजित करती है। नाटक के अन्त में महेन्द्रनाथ के लौट आने पर 'हल्का मातमी संगीत' उभरता है। 'संगीत और अधिक स्पष्ट और अंधेरा और अधिक गहरा होता जाता है जो दारूण नियति को संकेतित करता है।

संकलनत्रय का पूरा ध्यान नाटककार ने रखा है। कार्य, स्थान और काल–तीनों की अन्विति नाटकों में है समस्त घटनाएँ और कार्य व्यापार एक ही कमरे में लगभग चौबीस घण्टों की अवधि में घटित होते दिखाए गये हैं। वैसे समय की अन्विति में व्यवधान है किन्तु नाटक की अभिनेयता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करता। वर्जित दृश्यों से बचने का संकल्प पूरे नाटक में है हालांकि स्त्री द्वारा पूर्ण पुरुष की तलाश में ऐसी संभावना हो सकती थी जिससे नाटककार ने नाटक को बचा लिया है। इससे नाटक सुरूचिपूर्ण बना है और प्रदर्शन की कठिनाईयों से बचा लिया गया है। कथानक की संक्षिप्तता को कसावट देने से आकार छोटा हुआ है जिससे संकलनत्रय की आवश्यकता पूरी हुई है और दर्शकों को अतिरिक्त विस्तार तथा समय व्यय और तद्‌जनित ऊब से भी बचाया जा सका है। संरचना के स्तर पर संवेदना का बिखराव नहीं है, पात्र–योजना भी नाटकीय थीम के अनुरूप है।

पात्र योजना को लेकर 'आधे–अधूरे' में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। एक, पात्र को सूत्रधार रूप में प्रस्तुत करना। वह आंशिक रूप से नाटक की आलोचना भी करता है किन्तु प्रमुख रूप से नाटक से परिचित भी कराता है तथा बताता है कि व्यक्ति निश्चित नही हुआ करते, सवाल निश्चित हुआ करते हैं। यह भाव प्रेक्षक को चिन्तन मग्न कर देता है। इस पात्र को 'नैरेटर' भी नहीं कह सकते क्योंकि यह नाटक के बीच में कहीं नही आता। दूसरी असाधारणता एक व्यक्ति को पाँच भूमिकाओं में प्रस्तुत करना है। नाटककार का मूल भाव रहा है कि मुखौटे के नीचे पुरुष एक, दो, तीन, चार एक जैसे ही हैं। हालांकि एक ही व्यक्ति से पाँच भूमिकाएँ करवाने की युक्ति पर्याप्त प्रशंसा के साथ निन्दा का भी विषय बनी है। इस निन्दा का आधार यह है कि एक ही व्यक्ति पाँच भूमिकाओं के साथ न्याय नहीं कर सकता। जबकि प्रशंसा का आधार रंगमंचीय दृष्टि है क्योंकि पोशाक बदलने की दृष्टि से अभिनेता को कठिनाई नही होती। केवल ऊपरी वस्त्र बदलने से ही नया पात्र सामने आ जाता है। पहले काला सूट (काले सूट वाला आदमी) फिर कोट उतारकर केवल कमीज (महेन्द्रनाथ), बाद में बन्द गले का कोट और टोपी (सिंघानिया) फिर लम्बा कोट (जुनेजा)। बिन्नी, किन्नी, अशोक के कपड़े बदलने की जरूरत ही नहीं है। मात्र सावित्री को दूसरे अंक में एक बार साड़ी बदलनी पड़ती है। इस प्रकार पोशाक की सरलता पात्रानुकूल होने के साथ नाटक को सहज और रंगमंचीय दृष्टि से सरल बनाती है। महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि पात्रों को रूप सज्जा (मेकअप) की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इससे पात्र प्रेक्षक को वास्तविक और अपने करीबी लगने लगते हैं। साथ ही अभिनेता तथा निर्देशक के लिए भी कम प्रयास की जरूरत रहती है। इन विस्तृत रंग–निर्देशों ने नाट्य–शैली और नाट्य–निर्देशन को समीप ला दिया है। दोनों परस्पर पूरक बन गये हैं जिससे आधुनिक हिन्दी रंगमंच को नयी विकास गति मिली है।

अभिनेयता की दृष्टि से 'आधे–अधूरे' के मंचीय प्रयोग को खुले प्रेक्षागृह और बन्द थियेटर–दोनों धरातलों पर सफलता मिली है। मराठी, कोंकणी, अंग्रेज़ी भाषाओं मे अनूदित होकर इसका सफल मंचन हुआ है, क्योंकि इस नाटक में मोहन राकेश ने रंगमंच के अन्तर्निहित तर्क को प्रतिष्ठित करने का व्यावहारिक प्रयास किया है। इसमें नाट्यानुभूति उत्पन्न करने की गहन क्षमता है।

8.4 रंगमंचीय दृष्टि से 'आधे–अधूरे' की सीमाएँ :

हिन्दी नाटक की महत्वपूर्ण उपलब्धि होने के बावजूद 'आधे–अधूरे' में मूल्यांकन की दृष्टि के कुछ कमजोर बिन्दु सामने आते हैं। नाटक अन्तिम अंश में नाटक न रहकर चरित्र उदघाटन परक संवाद योजना मात्र रह गया है। ये संवाद बहुत लम्बे होने के कारण अन्तर्विश्लेषण में तो सार्थक हैं किन्तु प्रेक्षक के लिए ऊब का कारण बनते हैं। ये लम्बे संवाद नाटककार की इस विवशता के सूचक हैं कि उसे एक लम्बा प्रसंग संक्षेप में कह देना है। दूसरे, नाटककार ने इतने अधिक रंग निर्देश दिये हैं कि अभिनेता की हर गति को निर्धारित कर देना चाहा है। नाटककार की दृष्टि पात्रों के प्रकृति परिचय पर अधिक केंद्रित रही है। प्रारम्भ की लम्बी भूमिका में कहे कथन कि काले सूट वाला आदमी नाटक के भीतर भी है और बाहर भी और पात्र नाटक में निर्वाहित होते नहीं लगते। नेमिचन्द्र जैन के मतानुसार एक ही अभिनेता से पाँच भूमिकाएँ कराना अच्छी रंगमंचीय युक्ति

नहीं है। लम्बे संवाद और स्वगत कथन भी अभिनय की दृष्टि से कठिन एवं अवांछनीय हैं क्योंकि इनसे अपेक्षित गति बाधित होती हैं और एक सीमा तक मंथरता उत्पन्न होती है। नाटक में से किसी एक पुरुष को निकाल देने से नाटक के कार्य व्यापार और प्रस्तुति में कोई अन्तर नही पड़ता अर्थात् चरित्र कहीं फालतू भी हो गये लगते हैं। पात्रों की स्थितियों को उजागर न करते हुए सिर्फ उनकी झल्लाहटों और तल्खियों के चित्रण पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है।

अभिनेयता की दृष्टि से 'आधे–अधूरे' निश्चित रूप से प्रसाद युगीन नाटकों से आगे और सफल है किन्तु साहित्यिक सौन्दर्य और कथ्य की दृष्टि से बहुत पीछे है। अभिनेयता या दृश्य बन्ध की सफलता आज के विकसित रंगमच के सन्दर्भ मे विशिष्ट उपलब्धि अर्जित नही कर सकी है।

इन अपवादों के बावजूद मोहन राकेश के नाटकों का धरातल बहुत ऊँचा है। 'आधे–अधूरे' नाटक के प्रयोक्ताओं का मानना है कि यह बन्द और खुले–दोनों प्रकार के मंच पर खेला जाने योग्य है। इसकी प्रकाश योजना सीधी–साधी है। कहीं भी पर्दा नहीं गिरने से व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। मेकअप की जरूरत नही, वेशभूषा अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है। कम अभिनेताओं से ही कई पात्रों का काम साधा जा सकता है। इसे कहीं भी, किसी भी समय खेला जा सकता है।

8.5 सारांश

इस प्रकार मोहन राकेश ने हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए जो उपलब्धियाँ हासिल की हैं वह एक व्यक्ति नहीं बल्कि एक संस्था का कार्य कहा जा सकता है। उन्होंने न केवल नाटक को रंगमंच से जोड़ा बल्कि उसे अपना एक मुहावरा भी दिया। उन्होंने जिस सार्वभौमिक नाटकीय शब्द की कल्पना की वह उनकी नाटकीय क्षमता का उद्घाटक है। उन्होंने नाटकों में प्रयोगधर्मिता के ज़रिए रंगमंच को भी नित्य नया स्वरूप प्रदान किया। आधुनिक संवेदनाओं और जीवन को जिस नाटकीय कौशल के साथ और रंगमंचीय तेवर में मोहन राकेश प्रस्तुत कर सके हैं संभवतः कोई अन्य नाटककार ही कर पाया हो। हिन्दी नाटक और रंगमंच की परम्परा में मोहन राकेश के नाटक अन्यतम उपलब्धि हैं और 'आधे–अधूरे' उनके नाटकों में सफलतम नाटक कहा जा सकता है।

8.6 कठिन शब्द

1. संश्लेष	2. विरूपित	3. अन्तर्विरोध	4. विलक्षण	5. नीरवता
6. नेपथ्य	7. व्यंजित	8. अन्विति	9. व्यवधान	10. प्रेक्षागृह

8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रंगमंचीय दृष्टि से 'आधे–अधूरे' नाटक का मूल्यांकन कीजिए।

2. आधे–अधूरे नाटक की भाषा पर प्रकाश डालें।

3. रंगमंचीय दृष्टि से 'आधे–अधूरे' नाटक की सीमा निर्धारित कीजिए।

8.8 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. डॉ. दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक का उद्‌भव और विकास
2. डॉ. वीणा गौतम, हिन्दी नाटक : आज तक।
3. सिद्धनाथ कुमार – आधे–अधूरे : संवदेना और शिल्प।
4. जयदेव तनेजा – मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन।

....

एक और द्रोणाचार्य : मिथकीय चेतना/योजना

9.0 रूपरेखा
9.1 उद्देश्य
9.2 प्रस्तावना
9.3 मिथकीय चेतना/योजना
9.4 सारांश
9.5 कठिन शब्द
9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
9.7 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें

9.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. साहित्य के एक महत्वपूर्ण घटक 'मिथक' के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
2. एक और द्रोणाचार्य में मिथकीय चेतना/योजना से अवगत हो सकेंगे।

9.2 प्रस्तावना

'मिथक' साहित्य का एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटक है। आधुनिक साहित्य में काव्य और नाटक का श्रेष्ठ कृतित्व मिथकीय चेतना से अनुप्राणित रहा है। 'प्रिय प्रवास' से लेकर 'साकेत' 'कामायनी', 'उर्वशी', 'सेनापति कर्ण', 'अंगराज', 'कैकेयी', 'वृष्णायन', 'कुरुक्षेत्र', 'एकलव्य', 'रश्मिरथी' जैसी अनेक कृतियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि काव्य–रचना में मिथक निरंतर प्रेरणास्रोत तथा काव्य का प्रमुख आधार रहा है। नाटक के क्षेत्र में मिथक, विशेषतः महाभारतीय मिथक का प्रयोग कर सुरेन्द्र वर्मा, शंकर शेष, लक्ष्मीनारायण मिश्र, गिरिराज किशोर, भीष्म साहनी आदि ने बहुत सुन्दर और सार्थक नाट्य–रचना की है। महाभारतीय कथा–मिथकों पर नाट्य–लेखन की एक सुदीर्घ परंपरा सुरेन्द्र वर्मा के 'द्रौपदी', रमेश बक्षी के 'देवयानी का कहना है'; लक्ष्मीनारायण लाल के 'नरसिंह कथा' तथा 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', दयाप्रकाश सिन्हा के 'कथा एक कंस की', नरेन्द्र कोहली के 'शंबूक की हत्या', रेवतीसरन शर्मा के 'राजा बलि की नई कथा', शंकर शेष के 'एक और

द्रोणाचार्य' तक प्राप्त होती है। वस्तुतः काव्य और नाटकों में महाभारतीय कथा को मिथक रूप में ग्रहण करने का एक प्रबल कारण यह रहा है कि महाभारतीय युग की संघर्ष–संकुल परिस्थितियां आज की जीवन–स्थितियों और युग–परिवेश के पर्याप्त निकट हैं।

9.3 मिथकीय चेतना/योजना

मिथक में रचनाकार मूल कथा में अपने युगानुरूप परिवर्तन सृजित करता है। मिथक की विशेषता यह है कि वह प्रत्येक युग की परिस्थितियों, जीवन–स्थितियों को अपने में समा लेता है। उन्हीं के अनुरूप कथा में नए–नए मोड़ सृजित होते चलते हैं। मिथक की यही विशेषता उसे नित नवीन स्वरूप प्रदान करती चलती है। मिथक की इसी गुणवत्ता का प्रयोग कर शंकर शेष ने अपने नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' की सर्जना की है। यह नाटक की विशेषता है कि इसमें महाभारतीय कथा आधुनिक जीवन–कथा के समानांतर चलती है। लेखक अपने नाट्य–कौशल से कभी इस महाभारतीय कथा को वर्तमान में प्रक्षेपित कर देता है तो कभी पुनः पीछे लौट कर महाभारतीय कथा के गुरु द्रोणाचार्य की विवशता को रेखांकित करने के लिए तत्पर हो जाता है। वस्तुतः वर्तमान का गुरु अरविंद और मिथकीय कथा के आचार्य द्रोण किस प्रकार व्यवस्था के हाथों बिक कर विवश हुए हैं, यही दर्शाने के लिए शंकर शेष अपने नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' का प्रणयन करते हैं। वर्तमान की कथा का प्रो० अरविंद तथा महाभारतीय कथा के आचार्य द्रोण दोनों ही अपनी आर्थिक मजबूरियों के चलते व्यवस्था के हाथों बिकने को मज़बूर हुए हैं। गुरु द्रोणाचार्य अपने पुत्र को दूध तक पीने को न दे पाने की व्यथा से द्रवित है अपने ज्ञान, शास्त्र–कौशल, बुद्धि, बल, विवेक को कुरु राजसत्ता को सौंप देते हैं। वर्तमान की कथा का प्रो० अरविंद अपने परिवार की आर्थिक विपन्नता से द्रवित हो ऐसे कॉलिज में अध्यापन करता है जिसका प्रशासन भ्रष्टता और कदाचरण में डूबा हुआ है। इस प्रकार दोनों पात्र एक समानांतर स्थिति में हैं। यही शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य' की प्रेरणा भूमि है।

महाभारत के 'आदि पर्व' में द्रोणाचार्य, राजा द्रुपद, और अश्वत्थामा के जन्म की कथा वर्णित है। राजा द्रुपद ने अपनी राजसभा में बालसखा द्रोण का अपमान किया, द्रोण इससे बहुत कुपित हुए। वे द्रुपद के पास आने को तैयार नहीं थे किन्तु उनकी पत्नी कृपी उन्हें जबर्दस्ती वहाँ इसलिए भेजती है कि शायद इससे उन्हें आर्थिक कष्टों से मुक्ति मिल सकेगी। द्रुपद द्वारा अपमानित द्रोणाचार्य जब घर लौटते हैं तो उन्हें ज्ञात होता है कि उनके पुत्र अश्वत्थामा को दूध न मिल पाने के कारण उसके साथी उसे चावलों का घोल दूध के रूप में दिरक–दिरक कर पीने को विवश कर रहे थे। अपनी गरीबी में बालक अश्वत्थामा को पता ही नहीं था कि असली दूध और चावलों के घोल के स्वाद में क्या अंतर है। द्रोणाचार्य इस बात से बहुत कुपित होते हैं। तभी उन्हें भीष्म पितामह मिल जाते हैं जो उन्हें कौरव राजकुमारों की शिक्षा के लिए नियुक्त करना चाहते हैं। राजा द्रुपद से प्रतिशोध लेने और अपनी आर्थिक तंगी से मुक्ति पाने के लिए द्रोण राजगुरु के इस पद (की नौकरी) को स्वीकृत कर लेते हैं। अपने मंतव्यों की पूर्ति के लिए वे निषाद बालक एकलव्य से गुरु–दक्षिणा में सीधे हाथ का अंगूठा माँगने का घृणित कार्य करते हैं जिससे वे अपने शिष्य अर्जुन को विश्व का अद्वितीय धनुर्धर बनाने का अपना संकल्प पूरा कर सकें।

नाटककार शंकर शेष इस मूल कथा में इतना भर परिवर्तन करते हैं कि बालक अश्वत्थामा का दूध के लिए मचलना देख कर जब माँ कृपी बहुत व्यथित होती है तो वह स्वयं उसे दूध के स्थान पर चावलों का घोल पिला देती है। द्रोणाचार्य के लौटने पर वह स्वयं इस हृदय–विदारक घटना का वर्णन उनसे करती है। द्रोण इस घटना से व्यथित हो राजकीय सेना अपनाने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। इस परिवर्तित कथा की संगति पूरी तरह वर्तमान समय के आचार्य, कॉलिज के प्रोफेसर अरविंद से बिठाते हुए हमारी शिक्षण–संस्थाओं में फैले भ्रष्टाचार की कलई खोली गयी है। द्रोणाचार्य की कथा में तो केवल आचार्य द्रोण का चरित्र ही केन्द्र में रहता है। 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में प्रो० अरविंद के चरित्र के साथ–साथ उसके साथी अध्यापकों का चरित्र तथा शिष्यों का कार्य–व्यवहार भी प्रकाश में आ जाता है। एक प्रकार से पूरी शिक्षा व्यवस्था यहाँ नाटककार की सोच का केन्द्र बनती है। शिक्षण–संस्थाओं में घर कर गयी सभी बुराईयाँ लेखक की दृष्टि में आती हैं और वह इस मिथक का भरपूर प्रयोग वर्तमान की विसंगतियों को उघाड़ने में करता है। इस प्रकार 'एक और द्रोणाचार्य' हिन्दी के मिथकीय नाटकों में एक महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी हो जाता है।

मिथक पुराने कथानक के माध्यम से आधुनिक जीवन स्थितियों की अभिव्यक्ति किस प्रकार करता है, इसका परिचय नाटक के प्रारंभ से ही मिलने लगता है। किस प्रकार द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी को अपना परिवार आर्थिक विपन्नता में चलाना पड़ता था, उसी प्रकार वर्तमान की गुरु–पत्नी, प्रो० अरविंद की पत्नी, लीला को अपनी गृहस्थी आर्थिक तंगी में चलानी पड़ती है। राशन कार्ड बनवाने की चिंता से ले कर चीनी के बढ़ते दाम उसे परेशान किए रहते हैं। उधर प्रो० अरविंद अपने आदर्शवादी सिद्धांतों के चलते किसी की सिफारिश पर छात्र के दो नम्बर भी बढ़ाने को तैयार नहीं हैं। किन्तु नाटक की समस्या का प्रारम्भ प्रो० अरविंद द्वारा मैनेजर के लड़के राजकुमार को परीक्षा में छुरा सामने रख कर नकल करने को पकड़ने के द्वारा होता है। प्रो० अरविंद का बहुत बड़ा साहस है कि वह घाघ मैनेजर के बेटे पर हाथ डालता है। उसके यदु जैसे मित्र भी उसका विरोध करते हैं कि उसने ऐसा क्यों किया। प्रो० अरविंद का हृदय व्यवस्था के नीचे क्रंदन करता है। एक विद्रोह उसके हृदय में सदैव सुलगता रहता है जो उसे निडर हो कर यह पग उठाने के लिए उत्प्रेरित करता है, "अब किस–किससे डरूं, लीला ? कॉलेज को दुकान की तरह चलाने वाले उस प्रेसीडेंट से ?.... अंगूठा छाप कमेटी मेम्बरों से ? क्या पूरी उम्र डरते ही रहना होगा ? अपने इस रूप में वर्तमान का गुरु प्रो० अरविंद मिथकीय चरित्र द्रोणाचार्य से आगे है। द्रोणाचार्य इस रूप में कभी भी अपने नियोक्ताओं, कुरु–राजसभा, भीष्म आदि से विद्रोह भाव नहीं रख पाए, भले ही उन्हें एकलव्य का अंगूठा गुरु–दक्षिणा में माँगने जैसे गर्हित कार्य करना पड़ा हो। किन्तु प्रो० अरविंद को प्रेरणा, गुरु द्रोणाचार्य से ही मिलती है। उन्होंने एक नाटक निर्देशन किया था 'गुरु द्रोणाचार्य' तभी से उन्हें लगने लगता है कि वे भी आज की व्यवस्था द्वारा क्रीत कर लिए गए हैं। अपने मित्र द्रुपद द्वारा अपमानित तथा घर की आर्थिक स्थितियों से कुपित द्रोणाचार्य राजकीय सेवा में जाने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। उन्हें पता है कि उन्होंने एकलव्य के साथ अत्याचार किया है किन्तु उनकी विवशता है कि उनकी "विद्या केवल ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए है।" जब एकलव्य योग्यता और प्रतिभा की दुहाई देता है तो द्रोणाचार्य ने यही तर्क दिया कि योग्यता और प्रतिभा से 'व्यवस्था बड़ी है।' द्रोण इस व्यथा से पीड़ित हैं कि "मनुष्य का

जन्म हमेशा एक अनचाही व्यवस्था में होता है तो मैं क्या करूँ।" वे व्यवस्था को चुनौती नहीं दे सकते, उनका विश्वास है, जो व्यवस्था तोड़ी नहीं जा सकती उसमें विश्वास करके ही जिया जा सकता है।.... पर तुमने इतनी विद्या सीख कहाँ से ली ?"

एक और आयाम इस कथा में शंकर शेष अपने नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' में जोड़ते हैं। वह है एकलव्य के द्वारा गुरु–दक्षिणा मे अगूठा दिए जाने से अर्जुन का भी लज्जित होना कि उसका विश्व मे अद्वितीय धनुर्धर कहलाने का दंभ कितना छूँछा है क्योंकि छल से एकलव्य की प्रतिभा को मार देना बहुत बड़ा अपराध था। अर्जुन एक आत्म–ग्लानि में भरा रहता है, उसे यह द्रोणाचार्य का स्वयं और एकलव्य से अन्याय लगता है, अर्जुन का कथन है "क्योंकि मैं संसार के सबसे बड़े धनुर्धर को अपनी आँखों से देख चुका हूँ। . .... भविष्य में जब कभी मुझे कोई संसार का सबसे बड़ा धुनर्धर कहेगा तो उस समय एकलव्य का गर्म खून से सना हुआ पंजा मेरा मजाक उड़ाएगा। गुरुदेव मैं अपनी अपराध–भावना को कभी नहीं जीत सकूँगा।" इस प्रकार अर्जुन का चरित्र भी विवेच्य नाटक में एक नई गरिमा पा जाता है।

नाटककार शंकर शेष 'एक और द्रोणाचार्य' में मिथकीय कथा को एक और विस्तार देते हैं। मूल महाभारतीय कथा में आचार्य द्रोण के परिवार की आर्थिक विपन्नता का संकेत भर किया गया है। इस रूपरेखा में शंकर शेष गहरे रंग भर कर उसे और अधिक संवेदनात्मक रूप दे देते हैं। पाठकीय संवेदना भीतर तक हिल जाती है, जब वह यह जानता है कि आंचल छूटने के बाद अश्वत्थामा ने कभी दूध का स्वाद जाना ही नहीं क्योंकि दूध उसे पीने को ही नहीं मिला, कभी दूध पिया होता तो याद रहता दूध का स्वाद। दूध के नाम पर माँ उसे जहर देती तो उसे भी पी लेता। उसके पिता द्रोण तक को भी यह पता नहीं है कि सचमुच उसने दूध कभी पिया ही नहीं। कृपी इस रुप में अपनी आर्थिक विवशता को अभिव्यक्ति देती है। "कभी अपने लड़के की हड्डियाँ गिनी तुमने ? भिखमंगे का लड़का कहलाता है, तुम्हारा बेटा।.... मुझसे पूछो, कैसे जुटाती हूँ दो जून की रोटी।" स्वयं द्रोण इतने 'नारकीय जीवन' के विषय में जान कर हतप्रभ हैं। यह इस कथा का नया मिथकीय आयाम है।

महाभारतीय मूल मिथक में अर्जुन सदैव एक आज्ञाकारी शिष्य के रूप में सम्मुख आता है। वह द्रोणाचार्य का विनम्र शिष्य है कहीं भी उन्हें किसी प्रकार की चुनौती नहीं देता। शंकर शेष का अर्जुन, गुरु द्रोणाचार्य की चारित्रिक न्यूनता पर न केवल क्षुब्ध होता है अपितु उन्हें लताड़ लगाता हुआ खूब बुरा–भला कहता है। अर्जुन अपने हृदय में द्रोण के प्रति एक मूक घृणा–भाव पाले हुए है क्योंकि वह उन्हें ऐसे गुरु के रूप में देखता है जिसने प्रतिभा की दारुण अवमानना की है। वह निडर हो कर कहता है, "आपने एक महान प्रतिभा को उभरने से पहले ही कुचल दिया।" जब द्रोणाचार्य यह तर्क देते हैं कि एकलव्य उनकी सहायता के बिना ही अद्वितीय धनुर्धर बनना चाहता है "कल इतिहास मेरी अपूर्णता पर हंसता" तो अर्जुन का यह बेबाक कथन उसके चरित्र को एक नयी गुणवत्ता दे देता है "इतिहास तो फिर भी कल हंसेगा आप पर। जब भी प्रतिभा को जाति और व्यवस्था के नाम पर कुचला जाएगा तो लोग आपको ही याद करेंगे। इतिहास आपको कभी क्षमा नहीं करेगा"। इस प्रकार अर्जुन एक प्रबुद्ध शिष्य का रूप ले लेता है। वह गुरु के किसी भी प्रकार के 'अनुचित' में सम्मिलित

नहीं होना चाहता। वह समय रहते द्रोणचार्य को चेताता है, 'गुरुदेव, अभी भी समय है, एकलव्य को मना लीजिए। मैं इस पाप में शामिल नहीं होना चाहता' किंतु गुरु द्रोण का यही तर्क है, 'चुप रहो, मुझे अपना वचन पूरा करने दो। अपने राजकीय कर्त्तव्य का पालन करने दो।' इसी क्रम में एकलव्य अपना अंगूठा गुरु–दक्षिणा के रूप में भेंट कर देता है। मिथक में तथ्य, घटना को नही बदला जा सकता, केवल तत्त्व को बदला जा सकता है। यदि तथ्य को बदल दिया जाता है तो मिथक अपनी विश्वसनीयता खो बैठता है। शंकर शेष इसी प्रविधि का इस्तेमाल कर अपने पात्रों को नया रूप देते हैं।

मूल कथा के चरित्रों को युग–चिंतन के अनुरुप नया रूप देने में शंकर शेष ने 'एक और द्रोणाचार्य' में द्रौपदी–चीर–हरण प्रसंग को भी नये रूप में प्रदान किया है। कौरव राज–सभा में इस कुकृत्य को देख धृतराष्ट्र जैसे राजा ने अपनी अंधता का परिचय दिया, भीष्म जैसे पूज्य पितामह ने अपनी परवशता में मौन धारण कर लिया, कर्ण जैसा वीर मित्रता मे इस कृत्य का सहभागी द्रष्टा बना रहा, किन्तु आचार्य द्रोण जो दोनों पक्षों के लिए पूजनीय गुरु थे उन्होंने क्यों सत्य का पक्ष ले कर अपना निर्भीक मत नहीं दिया ? नाटककार ने अश्वत्थामा के माध्यम से यह प्रश्न उठाया है। इस रूप में नाटक में अश्वत्थामा और द्रोणाचार्य दोनों का चरित्र एक नया विकास पाता है। जब अश्वत्थामा की चुप्पी को ले कर माँ कृपी उससे सम्बोधित होती है तो अश्वत्थामा का यह उत्तर 'अब क्या चीखूगाँ ? जब चीखना था तब तो चुप रहा। कायरों की तरह मेरा पिता भी चुप रहा' उसके भीतर चल रहे संघर्ष को व्यंजित कर रहा है। यह गुस्सा उसे स्वयं पर है कि वह क्यों चुप रहा ? उसे लगता है कि उसके संस्कारो में ही कोई कमी रह गयी जो इस अनैतिक कृत्य को देख कर भी उसमें "शब्द फुंकार कर खड़े नहीं हुए।" वह अपनी माँ से उत्तर चाहता है कि वह इतना संस्कारहीन कैसे बन गया ? क्या उसके लिए माँ दोषी है या पिता ? अश्वत्थामा के चरित्र में यह बिलकुल नयी उद्‌भावना उसे अपने दर्शक / पाठक की दृष्टि मे बहुत ऊचाँ उठा देती है, "तुम उत्तर क्यों नही देती ? रजस्वला द्रौपदी को दरबार में नंगा किया जा रहा था फिर भी मैं चुप बैठा रहा, आकाश के टुकड़े–टुकड़े कर देने वाली आवाज से वह पुरुष जाति को पुकार रही थी। उसके बाद भी चुप रहा। बताओ ऐसा क्यों हुआ ?" अश्वत्थामा का यह आत्म–मंथन, आत्म–प्रवंचन, श्लाघ्य हो उठता है। उसे क्षोभ है कि अब उसके पिता का वह सम्मान नही रह गया जो एक आचार्य का होना चाहिए। बनवास को जाने से पहले कोई भी पांडव, उनका प्रिय शिष्य अर्जुन तक, उनसे मिलने नहीं आये। स्वयं द्रोण को भी इस बात का भान है कि अब वे गुरु कहाँ रहे। अश्वत्थामा को यह प्रश्न बार–बार खाये जा रहा है कि उसके पिता ने सही समय पर सही, सत्य का साथ क्यों नहीं दिया, 'यह प्रश्न मुझे नोंच–नोंच कर खा रहा है। बताइए न, आप चुप क्यों रहे' ? उसका तर्क बड़ा प्रबल है जिसका समुचित उत्तर द्रोण एकदम से नही तलाश पाते हैं।" पिता जी, जब द्रौपदी की पुकार किसी ने नहीं सुनी, तब वह आपके सामने आ कर खड़ी हो गयी थी। याद है, उसने क्या कहा था ? उसने कहा था – आचार्य आप तो न पांडव के रक्त संबंधी हैं, न कौरवों के। आप आचार्य हैं दोनों के ! क्या दुर्योधन आपका कहना नही मानेगा ? आपको तो सत्ता का मोह नहीं है। क्या आप अपने शिष्यों की पत्नी को सार्वजनिक रुप से अपमानित होते देख सकते हैं। उठाइए अपना धनुष। .... पर आप चुप रहे क्यों?" द्रोण चाहते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर अश्वत्थामा की माँ कृपी दे।

पर कृपी का उत्तर कथा को एक नया मोड़ दे 'आचार्यत्व' की परिभाषा दे डालता है। आचार्य तो बहुत ऊँचे आसन पर विराजित होता है। द्रोण का भीष्म, कृपाचार्य, विदुर आदि के चुप रहने का तर्क कृपी को बहुत थोथा दिखाई देता है, उसकी मान्यता है, "वे तो शिक्षक नहीं हैं। आचार्य नहीं हैं। तुमने चुप रह कर शिक्षक को अन्याय पीने की परंपरा दे दी। आने वाला इतिहास तुम्हें कोसेगा।" यही तो समस्या वर्तमान में आचार्य प्रो. अरविंद और उसकी पत्नी लीला के बीच उपस्थित है, इसी बिंदु पर प्राचीन और आधुनिक कथा अपनी संगति पाती है।

आचार्य द्रोण अपनी विवशता के जो तर्क प्रस्तुत करते हैं, उनमें भी अपनी सच्चाई है। वे तर्क आचार्य द्रोण की मूक व्यथा को वाणी देते हैं। द्रोण अपनी शिक्षा, योग्यता, आचार्यत्व को राजकीय सेवा में झोंक देने के लिए कृपी को दोषी मानते हैं, अश्वत्थामा भी माँ पर ही कुपित होता है कि उसने 'पिताजी को ऋषि परंपरा से गिराकर राजपुत्रों की दासता में क्यों धकेला ?" द्रोणाचार्य कृपी को दोष देते हैं कि "तुमने मुझे एक क्षण चैन से नहीं रहने दिया। दिन–रात तुम्हे मेरे दारिद्रय से शिकायत थी । मेरी धर्नुविद्या पर अभिमान का एक शब्द नही कहा तुमने"। जिस दिन द्रोण की पत्नी कृपी ने अश्वत्थामा को दूध के नाम पर चावलों का घोल पिलाया था उसी दिन से भूख द्रोण के सिद्धांत से बड़ी हो जाती है। उसी दिन द्रुपद से प्रतिशोध की भावना उनके विवेक से बडी हो जाती है। वही दिन था जब आचार्य द्रोण की प्रतिभा मेधा–सभी कुछ "राजकीय अन्न की दासता में" चला जाता है। द्रोण को आज पछतावा है कि उसी दिन कृपी ने उसका कमजोर पलों में साथ क्यों नहीं दिया। उसे सही निर्णय का विवेक और प्रेरणा क्यों नहीं दी ? राजकीय अन्न की दासता ने द्रोण को जितना परवश बना दिया था, उस व्यथा को वे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं...... उस राजकीय अन्न की दासता ने मेरा विवेक खरीदा। मेरी न्याय–बुद्धि खरीदी। मुझे एकलव्य का अगूठा कटाना पड़ा, मुझे कर्ण जैसे होनहार विद्यार्थी को व्यवस्था की आड़ ले कर ठुकराना पड़ा। "द्रोण को आत्म–ग्लानि होती है कि उसे पक्षपात और क्षुद्रता ने घेर लिया था। वह अपने पुत्र अश्वत्थामा से स्वीकार करते हैं कि इस समझौते ने मुझे कभी सही आदमी नहीं बनने दिया। तब मैं सही आदमियों का कहाँ से निर्माण करता ?"

व्यवस्था आदमी को कितना परवश और भोथरा कर देती है, उसे मिथकीय द्रोणाचार्य इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "सुविधाओं ने मेरी धार भोंथरी कर दी।" व्यवस्था ने द्रोण की मानवीयता को दबा कर पाशविकता को बढ़ावा दिया जिसके चलते द्रुपद से बदला लेने के लिए वे अपने शिष्यों का भी गलत इस्तेमाल करते हैं। उसी दिन से वे 'छोटे आदमी होते' चले गए। अश्वत्थामा के यह कहने पर कि वे अब भी इस व्यवस्था से अलग क्यों नहीं हो जाते हैं तो द्रोण का यह कथन कि अब बहुत देर हो चुकी है "अब मुझे उसका ही साथ देना होगा, जो मुझे अस्त्र देता है, वस्त्र देता है।"

नाटककार आचार्य द्रोण के चरित्र के माध्यम से द्रौपदी–चीर–हरण–प्रसंग पर भी अपनी युगानुरूप टिप्पणी प्रस्तुत कर सके हैं। जब अश्वत्थामा पूछता है कि द्रौपदी के इस अपमान के परिणाम क्या होंगे तो द्रोण व्यथित हो कर कहते हैं कि 'इसके दुष्परिणाम अत्यंत भयावह होंगे। उनकी दी हुई शस्त्र विद्या एक–दूसरे के संहार का कार्य करेगी क्योंकि मैंने केवल शस्त्र चलाने की शिक्षा दी है। मैंने अभी ऐसा कुछ नहीं सिखाया है जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अश्वत्थामा मुझे जलता हुआ भविष्य दिखाई दे रहा है।" द्रोणाचार्य का यह कथन आज

की शिक्षा व्यवस्था पर भी एक बडी भारी टिप्पणी है जो केवल किताबी और व्यवसायी प्रशिक्षण दे रही है, शिष्य में मनुष्य का विकास नहीं कर पा रही है।

9.4 सारांश

इस प्रकार अनेक कोणों से शंकर शेष मूल महाभारतीय मिथक कथा को आधुनिक युग–संवेदना प्रदान करते हैं। कथा में वे जिन खाली–स्थानों से स्पेस को भरते हैं, वह युग जीवन के चित्रण में सक्षम हो कथा को आज के लिए पूर्णतः प्रासंगिक बनाते हैं।

9.5 कठिन शब्द

1. अनुप्राणित	2. संकुल	3. गर्हित	4. प्रबुद्ध
5. प्रविधि	6. श्लाघ्य	7. भोथरा	8. परवश

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मिथक से आपका क्या अभिप्राय है । स्पष्ट करें।

2. एक और द्रोणाचार्य नाटक की मिथकीय योजना पर प्रकाश डालें।

9.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. एक और द्रोणाचार्य – डॉ. शंकर शेष।
2. एक और द्रोणाचार्य : एक मूल्यांकन – डॉ. रंजना रा. वर्दे अग्रवाल।
3. डॉ. शंकर शेष : व्यक्तित्व एवं कृतित्व – डॉ सुनीता मंजन बैल।
4. डॉ. शंकर शेष का नाटक साहित्य – डॉ. प्रकाश जाधव।
5. डॉ. शंकर शेष के नाटकों का रंगमंचीय अनुशीलन – डॉ. रमाकांत दीक्षित ।

....

'एक और द्रोणाचार्य' में व्यवस्था और बुद्धिजीवी का संघर्ष

10.0 रूपरेखा

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 'एक और द्रोणाचार्य' में व्यवस्था और बुद्धिजीवी का संघर्ष

10.4 सारांश

10.5 कठिन शब्द

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.7 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें

10.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. 'एक और द्रोणाचार्य' में व्यवस्था और बुद्धिजीवी के संघर्ष को जान सकेंगे।
2. व्यवस्था को हाथों बुद्धिजीवी वर्ग की दुर्गति को जान सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

'एक और द्रोणाचार्य' नाटक मिथकीय चेतना का आश्रय लेकर व्यवस्था और बुद्धिजीवी के संघर्ष को रूपायित करता है। मिथकीय कथा के आचार्य द्रोण और वर्तमान की कथा के प्रो० अरविंद दोनों ही अपनी आर्थिक विवशताओं में व्यवस्था के अंग बनते हैं। दोनों को ही अपने घोषित, पालित, आदर्शों और मूल्यों की बलि देकर व्यवस्था के इंगितों पर नाचना पड़ता है। द्रोणाचार्य और प्रो० अरविंद दोनों ही बुद्धिजीवी वर्ग के प्रतिनिधि हैं। बुद्धिजीवी प्रायः ही मध्य वर्ग के चरित्र होते हैं। मध्य वर्ग किसी भी समाज की रीढ़ होता है। मध्य वर्ग अपने जीवन–आदर्शों में अत्यंत उच्च होते हुए भी धीरे–धीरे व्यवस्था का अंग बनता चला जाता है। अपना मन मार कर वह व्यवस्था के चलाए चलता है, प्रत्येक उचित–अनुचित, करणीय–अकरणीय को करने के लिए तत्पर। प्रारम्भ में या बाद में भी कभी–कभी उन्हें उनकी आत्मा कचोटती है। किन्तु वे इस कचोट को ज्यादा देर तक पाले नहीं रखते, अन्ततः उन्हें व्यवस्था के हाथों विवश हो गलत निर्णय लेने पड़ते

हैं। इन्हीं सब स्थितियों को प्रस्तुत नाटक में अभिव्यक्ति दी गयी है।

10.3 'एक और द्रोणाचार्य' में व्यवस्था और बुद्धिजीवी का संघर्ष

बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला प्रो० अरविंद जिन स्थितियों में जीवन–यापन करता है, उसका परिचय नाटक के प्रारम्भ में ही उसकी पत्नी देती है, जब वह राशन–कार्ड के बनने की दिक्कत, माँ का ऑपरेशन और अस्पताल के चक्कर आदि की बात करती है। चीनी की मँहगाई का भी रोना वह रोती है। एक प्रकार से इस परिवार के सामने सामान्य बुद्धिजीवी के समान परिवार चलाने की समस्याएँ हैं। लीला के दो शब्द इन्हीं स्थितियों को उजागर करते हैं, जानते हो किस तरह घसीट रही हूँ तुम्हारी गृहस्थी की गाड़ी? एक–एक पैसे को खींचतान मची हुई है और तुमने यह मुसीबत खड़ी कर दी।" स्वर्गीय प्रो० विमलेंदु भी ऐसी ही स्थितियों का मारा हुआ था, उसे भी व्यवस्था के हाथों बलि दे दी गयी थी। विमलेंदु प्रो० अरविंद को मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के रूप में देखता है, "साले, मिडिल क्लास के आदमी। अपनी हर समस्या को ग्लोरीफाई करोगे।" विमलेंदु की बीवी भी नौकरी के लिए दर–दर भटक रही है, किन्तु कोई उसे नौकरी नहीं देता। ये सब बुद्धिजीवी समाज की वास्तविकताएँ हैं। रोजी–रोटी के जुगाड़ और उच्चतर मूल्यों के पालनार्थ बुद्धिजीवी को पग–पग पर व्यवस्था से जूझना पड़ता है। उसकी शक्ति सीमित होती है, बहुत छोटे–छोटे मोर्चो पर लड़ता हुआ जीवन शेष करता है। प्रो० अरविंद के ये शब्द इसी सत्य को सामने लाते हैं "मैं एक छोटा आदमी हूँ। छोटे–छोटे मोर्चों पर लड़ता हूँ।" किन्तु वास्तविकता यह है कि गुरु द्रोणाचार्य जैसा महान व्यक्तित्व भी व्यवस्था के सामने चुप हो बैठता है। नाटक की कथा में इसका सबसे बड़ा उदाहरण द्रौपदी–चीर–हरण प्रसंग के रूप में आता है, जब कुरु–सभा में सभी वीरों के रहते हुए आचार्य द्रोण भी इस पापाचार को साक्षात् देखते रहे। द्रौपदी का उनसे सीधा प्रश्न था कि आचार्य आप तो न कौरवों के रक्त सम्बंधी हैं और न पाण्डवों के, फिर भला क्यों सत्य का मार्ग ग्रहण करने में सच को सच कहने में आपको बाधा आ रही है। सही बात जानते हुए भी व्यवस्था प्रदत्त सुविधाएँ आचार्य को कौरवों के विपरीत बात कहने का साहस नहीं देती। एक प्रकार से यह आचार्य द्रोण का अपनी आत्मा को मारना है। आचार्य द्रोण को अपने इस व्यवहार से आत्म–ग्लानि की अग्नि में गलना पड़ता है। अपनी मृत्यु के पूर्व वे इस वास्तविकता को स्वीकारते हैं, "ठीक किया तुमने ! मैं इसी का पात्र था। सत्य और न्याय का पक्ष जानते हुए भी मैं उसके विरोध में लड़ा। अपने ही शिष्यों के विरूद्ध, राजकीय अन्न की दास्ता–समझौते का चरित्र।"

प्रो० अरविंद का भी व्यवस्था से यह संघर्ष नाटक के प्रारम्भ से ही देखा जा सकता है। प्रारम्भ में उसका चरित्र अपने आदर्शों की रक्षा करने में ही है किन्तु धीरे–धीरे व्यवस्था उसे अपने अनुरूप ढालती चली जाती है। प्रेसीडेंट पुत्र राजकुमार के नकल के केस के सिलसिले में व्यवस्था से उसकी पहली टकराहट होती है। वह राजकुमार को पकड़ने का साहस तो कर बैठता है किन्तु उसकी इस 'आदर्शवादी बेवकूफी' के लिए सभी उसे लताड़ते हैं, प्रो० अरविंद का साथी यदु उसे लताड़ता है, लीला को सम्बोधित है वह, "अब क्यों समझा रही हैं। सारी जिन्दगी तो इसकी आदर्शवादी बेवकूफियों की पूजा करती रही। अब क्यों भड़क रही हो।" प्रकारांतर से यदु का यह कथन प्रमाणित करता है कि प्रो० अरविंद जिंदगी भर कदम–कदम पर, अपने मूल्यों के लिए व्यवस्था से संघर्षरत रहा है।

व्यवस्था के एक बड़े भारी विद्रूप को नाटक में बड़ी कुशलता से दर्शाया गया है। वह है शिक्षा के उच्चतर स्तर को प्रायः अनपढ़, अल्पशिक्षित व्यवस्था द्वारा नियंत्रित करना, प्रो० अरविंद को ऐसी व्यवस्था के इशारों पर नाचना पड़ता है। शिक्षा के इन अनपढ़ ठेकेदारों से प्रो० अरविंद जैसे बुद्धिजीवी का संघर्ष नित्य की ही बात है, 'अभी किस–किस से डरूँ लीला ? कॉलिज को दुकान की तरह चलाने वाले उस प्रेसीडेंट से ?... अंगूठा छाप कमेटी मेम्बरों से ? चुगली खाने वाले अपने सहयोगियों से ?.....उस लिजलिजे बेहूदे प्रिंसीपल से ? विद्यार्थियों से ? क्या पूरी उम्र डरते ही रहना होगा ?" इस प्रकार यह प्रो० अरविंद की व्यवस्था से सीधी टकराहट है। यह व्यवस्था महाविद्यालय की शिक्षा के उच्चतम नियंता को भी इस प्रकार का व्यवहार देती है जैसे किसी नौकर का जड़ खरीद गुलाम से व्यवहार किया जाता है। प्रिंसीपल का कहना है कि प्रेसीडेंट "मुझे तो सुबह से शाम तक गाली देता है, गधा और उल्लू का पट्ठा कहता है। पर क्या करूँ, सुनता हूँ। सुनूँगा नहीं तो जाऊँगा कहाँ ? इस प्रकार के कई अवसर नाटक में उपस्थित हुए हैं। व्यवस्था ने प्रिंसीपल को इतना लुंज–पुंज बना दिया है कि वह गालियाँ खाने पर भी 'खुशी जाहिर करता है।' व्यवस्था के लिए व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है, वह उसके सामने कीड़ा–मकौड़ा बन कर रह गया है जिसे जब चाहा कुचला जा सकता है। प्रो० विमलेंदु को व्यवस्था ने ही बलि का बकरा बना दिया था। मरने के बाद विमलेंदु को यह अहसास और तीव्र रूप में होता है कि "दम घोंट कर सब देने वाली व्यवस्था" व्यक्ति को किस तरह गुमराह करती है। इसका तीव्र अहसास वह प्रो० अरविंद को कराना चाहता है। मिथकीय कथा के आचार्य द्रोण भी धर्म की व्यवस्था के चलते एकलव्य का अंगूठा मांगने को विवश होते हैं। जब अर्जुन द्रोणाचार्य से पूछते हैं कि उन्होंने एकलव्य का अंगूठा गुरुदक्षिणा में क्यों मांगा तो उनका उत्तर यही है "धर्म की व्यवस्था के लिए। जानते नहीं शूद्रों और वनवासियों को धर्नुविद्या की शिक्षा नहीं दी जा सकती।"

एकलव्य का अंगूठा दान में मांग लेने की इस घटना से यह बात भी बलपूर्वक स्थापित होती है कि व्यवस्था का अंग बन कर बुद्धिजीवी गलत से गलत कार्य करने को प्रस्तुत हो जाता है, चाहे वह एकलव्य का अंगूठा गुरु दक्षिणा में मांगने की स्थिति हो अथवा फिर वर्तमान परिदृश्य में राजकुमार को नकल के केस से बेदाग निकाल लाने की विवशता हो। व्यवस्था से समझौता कर प्रो० अरविंद प्रिंसीपल की कुर्सी तक तो पहुँच जाता है किन्तु वह इस व्यवस्था में इतनी बुरी तरह पिसता चला जाता है कि "एक दिन तो चैन की सांस मिल नहीं पाती है उसे।" अपनी ही नजरों में वह इतना गिर जाता है कि सदैव अपने को प्रताड़ित अनुभव करता है", हर आदमी मुझे बेईमान और मौकापरस्त समझता है, कोई मुझ पर विश्वास नहीं करता। उस पर विश्वास न करने के बड़े मौजूं कारण हैं। अनुराधा का चरित्र इस तथ्य को प्रमाणित करता है। वह प्रिंसीपल, अरविंद पर विश्वास नहीं कर पाती क्योंकि वह जानती है कि व्यवस्था का हिस्सा बन कर उसने चन्दू जैसे सच्चे विद्यार्थी का साथ नहीं दिया था। इसलिए वह चन्दू का प्रिंसीपल के विषय में यह कटु मत बताती है। चन्दू उसे 'बड़े–बड़े निरर्थक शब्द थूकने वाला नपुंसक बुद्धिवादी कहता था।" वस्तुतः बुद्धिजीवी व्यवस्था से लड़ने वाला ऐसा ही मिट्टी का शेर है जिसकी गर्जना (शब्दों) का कोई अर्थ नहीं रहता है। प्रो० अरविंद को प्रिंसीपल बन कर जो आत्म–ग्लानि होती है, वह यह बताने के लिए काफी है कि उसकी स्थिति "सड़े हुए आटे में बिलबिलाने वाले कीड़े" जैसी है। वह देखता है कि प्रिंसीपल को प्रेसीडेंट कैसे झूठा इल्जाम लगा कर कॉलिज के रूपयों के गबन–केस में फँसा देता है और स्वयं शिक्षा की व्यवस्था में एक ऐसा

घुन है जिससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। उसने "दुकानों की तरह बीस शिक्षण संस्थाएँ खोल रखी हैं। लेन–देन का व्यापार करता है। शिक्षण संस्थाओं के लाखों रूपयों का उपयोग यह शिक्षा–शास्त्री अपने लेन–देन के व्यवसाय में करता है। इस पूँजी से हजारों रूपये कमाकर कालेज को लौटा देता है। "तुर्रा यह है कि यह सब वह प्रिंसीपल से कराता है और जरूरत पड़ने पर पन्द्रह हजार रूपये के गबन का आरोप उसी प्रिंसीपल पर लगा कर उसे अपराधी सिद्ध कर देता है। प्रिंसीपल पर गबन, धोखाधड़ी का आरोप लगा कर पुलिस हिरासत में दे दिया जाता है जिससे वह उसके बेटे राजकुमार को अनुराधा के बलात्कार केस में संलिप्त न करे। इस प्रकार यह क्रूर व्यवस्था इस बुद्धिजीवी की 'जीभ ही छीन' लेती है। यह व्यवस्था इतनी क्रूर है कि अदालत तक को अनुराधा के साथ न्याय नही करने देती है, वह आत्म–हत्या के लिए विवश कर दी जाती है। अरविंद जैसे बुद्धिजीवी को इतना बुजदिल बना दिया जाता है कि वह विरोध की स्थिति में रह ही नहीं पाता, केवल मानसिक क्षोभ व्यक्त कर रह जाता है कि "मेरी बुजदिली ने मार डाला उसे।" वह अपनी नौकरी से इस्तीफा देना चाहता है किन्तु प्रो० विमलेंदु की मृतात्मा उसे ऐसा करने से रोकती है। व्यवस्था के सामने बुद्धिजीवी व्यक्ति का क्षोभ या क्रोध कितना बेमानी होकर रह जाता है, इसका परिचय विमलेंदु के ये शब्द देते हैं कि "मैं भी तुम्हारी जगह होता तो इस्तीफा लिखता जरूर। पर थोड़ी देर बाद फाड़ कर फेंक देता।" एक प्रकार से बुद्धिजीवी का क्रोध व्यवस्था के सामने एक नपुंसक क्रोध बन कर रह जाता है।

व्यवस्था के हाथों बुद्धिजीवी की दुर्गति का एक और दृष्टांत विमलेदु की पत्नी की दुर्दशा में दिया गया है। उसकी जवान विधवा पत्नी छोटी सी नौकरी कर अपना पेट पाल रही है, अपनी बच्ची का पेट पाल रही है। इतना ही काफी नही उसे नौकरी भी चैन से नहीं करने दी जाती है। साठ साल का नया अफसर उस पर डोरे डालने लगता है, प्रमोशन का लालच देकर उससे खिलवाड़ करना चाहता है। इन सब स्थितियों से निजात का उपाय नहीं है, इसलिए विमलेदु का सुझाव है कि वह अपना इस्तीफा फाड़ दे। व्यवस्था से समझौता कर ठाठ से नौकरी करे। अभी तक प्रिंसीपल अरविंद ने गबन नहीं किया है किन्तु अब उसे कर लेना चाहिए। मूल मिथकीय कथा के द्रोण ने भी तो ऐसा ही किया था। राजकीय दासता ने द्रोण को सुरक्षा और झूठी–सी प्रतिष्ठा दी। सुविधाओं ने उसकी धार भोंथरी कर दी। व्यवस्था के इस सर्वग्रासी रुप ने उसके भीतर इंसानियत को सुला कर हैवानियत को खड़ा कर दिया। अरविंद भी इन्हीं स्थितियों में डूबता–उतरता है। द्रोणाचार्य ने भी इन्हीं स्थितियों को भोगा है, वह अपने पुत्र से स्वीकारता है कि राजकीय अन्न की दासता ने उसका विवेक खरीद लिया, उसकी न्यायबुद्दि को खरीद कर अपनी संपति बना लिया।"मुझे एकलव्य का अंगूठा मांगना पड़ा। मुझे कर्ण जैसे होनहार विद्यार्थी को व्यवस्था की आड़ लेकर ठुकराना पड़ा। पक्षपात, क्षुद्रता ने मेरा सत्य छीन लिया।" व्यवस्था से यह समझौता द्रोण जैसे बुद्धिजीवी को कभी "सही आदमी" नहीं बनने देता। वह हर दिन छोटा आदमी होता गया।" उधर प्रो० अरविंद भी व्यवस्था के इंगितों पर अपने साथियों को" पाँच सौ की रसीद लिख कर केवल तीन सौ रुपये वेतन" के रुप में देता है। उसके साथियों को उम्मीद थी कि प्रो० अरविंद इस गलत परंपरा को तोड़ कर उन्हें न्याय देगा किंतु वह नहीं कर पाता। जो प्रो० अरविंद 'हमेशा शोषण और अन्याय के खिलाफ लेक्चर देता था, हमेशा मानवीय अधिकारों का झंडा उठा कर घूमता था, आज वह व्यवस्था के हाथों लुंज–पुंज होकर रह गया है।

व्यवस्था ने प्रो० अरविंद जैसे बुद्धिजीवी को अपने प्रिय शिष्यों की नजरों में भी गिरा दिया है। चंदू प्रो० अरविंद का प्रिय शिष्य है। वह उन पर अगाध विश्वास करता है कि वे अवश्य ही सत्य का पक्ष लेंगें। उसकी इस आस्था को पहला आघात तो तब लगता है जब राजकुमार की नकल के मामले में वे समझौतावादी दृष्टि अपनाते हैं और चंदू की आस्था तब पूरी तरह हिल जाती है जब अनुराधा के बलात्कार–प्रसंग में वे झूठ का सहारा लेते हैं, "प्रोफेसर अरविंद ने झूठ बोलकर मेरी सब श्रद्धाओं को कुचल दिया। कालेज से मैं जिस तरह निकाला गया उससे मेरा जिंदगी के प्रति रहा सहा विश्वास भी जाता रहा।" चंदू के इन शब्दों मे एक प्रकार से पूरी एक पीढ़ी का आक्रोश व्यक्त होता है जिसने अपने प्रोफेसर, गुरु को श्रद्धा और विश्वास के उच्च आसन से गिरते देखा है। उच्च आदर्शों का पालन करने वाला चंदू भी झूठ बोलने को विवश होता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गुरु द्रोणाचार्य के शिष्य धर्मराज युधिष्ठिर ने झूठ बोला था। सत्य को छिपा कर कहना भी एक प्रकार से झूठ बोलना ही है। अश्वत्थामा मारा गया, नर या हाथी का उद्घोष कर धर्मराज भी अपने मार्ग से विचलित हुए थे। गुरु द्रोण उसके इस कृत्य को उचित ठहराते हैं, "ठीक किया तुमने। मैं इसी का पात्र था। सत्य और न्याय का पक्ष जानते हुए भी मैं उसके विरोध में लड़ा। अपने ही शिष्यों के विरुद्ध, राजकीय अन्न की दासता–समझौते का चरित्र। ठीक किया तुमने। इस समय तुम्हारा झूठ बोलना ही धर्म है। युधिष्ठिर, तुम सच भी बोलते तो क्या इतिहास झूठ बोलता। अच्छा किया तुमने – अच्छा किया तुमने।" इसी रुप में जब चंदू अपनी भूमिका निभाता है तो अरविंद को ऐतराज है कि चंदू की धर्मराज से तुलना क्यों की जा रही है। विमलेन्दु का तीखा प्रश्न है "बताओ, चंदू को झूठ बोलना किसने सिखाया ?" प्रो० अरविंद का हर झूठ चंदू के हर विश्वास को गहरा धक्का देता है। प्रो० अरविंद जैसा योग्य और निष्ठावान अध्यापक व्यवस्था के हाथों ऐसा बिक जाता है कि वह शिक्षक के रुप में भी अपना करणीय नहीं कर पाता है। अर्थशास्त्र पर थोथे भाषण दे कर, माल्थस, पीगू और केन्स के सिद्वांत पढ़ा कर वह उन्हें कोरा किताबी ज्ञान देता रहा। यह सब तो छात्र को किताबों से भी मिल जाता। वह अपने छात्रों को अपने आदर्शों द्वारा ऐसा कुछ नहीं दे पाता "जो उनके जीवन को अर्थ देता।" विमलेंदु अरविंद के कार्यों का आकलन कर ठीक ही यह टिप्पणी करता है कि "यदि व्यवस्था तुम्हें अपने इशारों पर भोंकने वाला कुत्ता बनाना चाहती है तो भोंको, कुत्ते के पिल्लों को जन्म दो। चन्दू और युधिष्ठिर मत पैदा करो। राजकुमार और दुर्योधन पैदा करो।" व्यवस्था बुद्धिजीवी को कितना विवश बना देती है, विमलेंदु का यह कथन इसकी तीव्र प्रतीति करा देता है। आज की सारी शिक्षा–व्यवस्था इसी तथ्य की प्रतीति कराती है।

'एक और द्रोणाचार्य' नाटक के समस्त कथानक में व्यवस्था के हाथों बुद्धिजीवी के बिकने के इसी तथ्य को पग–पग पर, बारम्बार विविध रूपों में रेखांकित किया गया है। व्यवस्था व्यक्ति पर कब प्रहार करती है, इसका भी उल्लेख विभिन्न पात्रों के माध्यम से कराया गया है, विशेषतः विमलेन्दु और द्रोणाचार्य द्वारा। व्यवस्था के पास शक्ति होती है, अपनी शक्ति का प्रयोग कर वह उसकी पीठ थपथपाती है जो उसके मंतव्यों को पूरा करता है। विमलेन्दु प्रेसीडेंट को इसी रूप में देखता है, इसीलिए वह प्रेसीडेंट को कोई दोष नहीं देता है, प्रो० अरविंद के यह पूछने पर कि व्यवस्था उसे दोष नहीं देती विमलेन्दु का उत्तर है "क्योंकि उसके पास शक्ति थी। व्यवस्था उसकी पीठ थपथपाती थी। शक्ति के कारण तुम्हारी नियति तय करने का उसे अधिकार था।" प्रश्न यह है कि प्रो० अरविंद उस व्यवस्था के बताए रास्ते पर क्यों नहीं चला, इसे एक चुनौती के रूप में विमलेन्दु उससे पूछता है। इसका उत्तर भी वह स्वयं

ही दे डालता है कि सत्ता, व्यवस्था तभी तक व्यक्ति या बुद्धिजीवी को स्वीकरती है जब तक वह उसके बताए मार्ग पर चलता है, जैसे ही वह विरोध की भाषा अपनाता है व्यवस्था उसके अस्तित्व पर सीधा हमला करती है। यह हमला कभी प्रलोभन देने के रूप में आता है जैसे प्रो० अरविंद को प्रिंसीपल बनाने का प्रलोभन दिया गया था, कभी आंतक जमा कर, जिस प्रकार प्रो० अरविंद को गबन केस में फँसा कर पुलिस हिरासत में दे दिया जाता है।

व्यवस्था द्वारा बुद्धिजीवी को खरीदने और उससे गलत–सलत काम कराने के संदर्भ में प्रो० विमलेन्दु की मृतात्मा को मिथकीय कथा का द्रोणाचार्य ही याद आता है। अतः नाटक के अंत में विम्लेन्दु प्रो० अरविंद को अपनी कटु वाणी के कोड़ों का प्रहार देता है, प्रहार पर प्रहार। उसका प्रस्तुत कथन, बुद्धिजीवी प्रो० अरविंद और व्यवस्था के संघर्ष को पूरी प्रामाणिकता में उजागर करता है, "तू द्रोणाचार्य है। व्यवस्था और सत्ता के कोड़ों से पिटा हुआ द्रोणाचार्य। इतिहास की धार में लकडी के ठूंठ की तरह बहता हुआ। वर्तमान के कगार से लगा हुआ सड़ा–गला द्रोणाचार्य व्यवस्था के लाइट हाउस से अपनी दिशा मांगने वाले टूटे जहाज सा द्रोणाचार्य।" यह कथन प्रो० अरविंद के व्यवस्था से संघर्ष को शब्दशः चरितार्थ करता दिखता है। प्रो० अरविंद को भी बार–बार प्रिंसीपल–प्रेसीडेंट प्रताड़ित करते हैं, तरह–तरह से, यह गति सत्ता के कोड़ों से पिटने जैसी ही है। इतिहास या परंपरा में ऐसे व्यक्ति की गति ऐसी ही होती है जैसे लकड़ी का कोई ठूंठ जलधारा में बहा चला जाता है, देश और समाज का उससे कोई हित साधन नहीं हो पाता है। पानी में चलता हुआ यह लकड़ी का ठूंठ अपनी गति से किनारे आ लगता है, इसी प्रकार बुद्धिजीवी अपनी गति से कार्य करता हुआ एक दिन जीवन–शेष हो जाता है. देश और समाज उसकी कोई परवाह नही करते। ये लोग अपने विरोध की भाषा से कोई नया इतिहास नही रच पाते हैं। होना यह चाहिए कि बुद्धिजीवी अपने सही गलत के तर्काधित विवेक से सत्ता को सीधी राह पर चलने के लिए विवश करें पर ऐसा संभव नहीं हो पाता है। इसके कारण अनमेशः हैं। सत्ता अपनी शक्ति के बल पर, समाज को नियंत्रित करने वाली सारी नियामक शक्तियों को खरीदे रखती है। पुलिस बल और न्याय व्यवस्था सभी उसके पक्ष को सपुंष्ट करती रहती है। प्रो० अरविंद बार–बार यह कोशिश करता है कि वह किसी प्रकार सच का मार्ग अपना ले किन्तु पुलिस का भय–आंतक दिखा कर प्रेसीडेंट उसे हिम्मतपरस्त कर देता है। प्रो० अरविंद को पता है कि सार्वजनिक रूप से झूठ बोलना उसके लिए आत्महत्या जैसा ही होगा। प्रेसीडेंट उसे उकसाता है कि आप ऐसा कुछ उपाय कीजिए जिसमे न आपको झूठ बोलना पड़े और न किसी और को। प्रेसीडेंट को विश्वास है कि प्रो० अरविंद वही करेगा "जो मैं चाहता हूँ।" पुलिस व्यवस्था के बल पर ही प्रेसीडेंट को विश्वास है कि जब तक आप सच बोलने की स्थिति में आयेंगे उस पर विश्वास कौन करेगा। प्रो० अरविंद के पूछने पर कि 'क्यों'–प्रेसीडेंट का बड़ा निडर उत्तर आता है "क्योंकि तब तक आप पुलिस की हिरासत में होंगे।" पुलिस प्रो० अरविंद को गिरफ्तार कर ही लेगी, प्रेसीडेंट को यह विश्वास इसीलिए है कि उसने पुलिस को भी खरीद रखा है। कोर्ट रूप के दृश्य–बंध में पहली आवाज, दूसरी आवाज तथा तीसरी आवाजों के माध्यम से वकीलों की जिरह और न्यायधीश की न्याय पद्धति का थोड़ा परिचय देकर यही सिद्ध किया गया है कि समाज के ये आवश्यक घटक भी व्यवस्था के, सत्ता के साथ ही हैं।

10.4 सारांश

इस प्रकार 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में व्यवस्था और बुद्धिजीवी के संघर्ष को विभिन्न कोणों से पूरी प्रामाणिकता में चित्रित किया गया है।

10.5 कठिन शब्द

1. इंगित	2. प्रदत्त	3. नियंता	4. गबन
5. सर्वग्रासी	6. प्रतीति	7. प्रलोभन	8. प्रताड़ित
9. बुद्धिजीवी			

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'एक और द्रोणाचार्य' में व्यवस्था और बुद्धिजीवी के संघर्ष पर प्रकाश डालें।

2. व्यवस्था में व्याप्त विद्रुपताओं को 'एक और द्रोणाचार्य' के संदर्भ में स्पष्ट करें।

10.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. एक और द्रोणाचार्य – डॉ. शंकर शेष।
2. एक और द्रोणाचार्य : एक मूल्यांकन – डॉ. रंजना रा. वर्दे अग्रवाल।
3. डॉ. शंकर शेष : व्यक्तित्व एवं कृतित्व – डॉ सुनीता मंजन बैल।
4. डॉ. शंकर शेष का नाटक साहित्य – डॉ. प्रकाश जाधव।
5. डॉ. शंकर शेष के नाटकों का रंगमंचीय अनुशीलन – डॉ. रमाकांत दीक्षित ।

....

रंगमंचीय दृष्टि से 'एक और द्रोणाचार्य' की सार्थकता

11.0 रूपरेखा
11.1 उद्देश्य
11.2 प्रस्तावना
11.3 रंगमंचीय दृष्टि से 'एक और द्रोणाचार्य'
11.3.1 कथावस्तु
11.3.2 पात्र सृष्टि और चरित्र चित्रण
11.3.3 कथोपकथन अथवा संवाद
11.3.4 देशकाल और वातावरण
11.3.5 भाषा शैली
11.3.6 उद्देश्य
11.3.7 रंग–निर्देश
11.4 सारांश
11.5 कठिन शब्द
11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
11.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

11.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. रंगमंच के महत्व के विषय में जान सकेंगे।
2. नाटक के तत्वों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
3. रंगमंचीय दृष्टि से 'एक और द्रोणाचार्य' की सार्थकता को जान सकेंगे।

11.2 प्रस्तावना

नाटक को 'दृश्य काव्य' की विधा माना गया है, अर्थात् नाटक का अस्तित्व ही रंगमंच पर सार्थकता पाता है। पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों परंपराओं में नाटक के अभिनय पक्ष पर ही बल दिया गया है। यदि भारतीय परंपरा में नाटक को दृश्य काव्य माना गया है तो पाश्चात्य परंपरा में भी नाटक के अभिनय पक्ष को महत्त्व प्रदान कर इसे 'ड्रामा' कहा गया है। 'ड्रामा' जिस यूनानी शब्द से निकला है उसका अर्थ 'कृत' अथवा 'किया गया है'। नाटक का मूल तत्त्व अनुकृति ही है। नाटक में कथा के पात्रों का अनुकरण ही किया जाता है, इसलिए अभिनय ही नाटक की मूल प्रवृत्ति ठहरती है। इसी के आधार पर भरत ने अपने प्रसिद्ध 'रस सिद्धांत' की स्थापना की। अपने वर्तमान स्वरूप में नाटक पूर्वी और पश्चिमी काव्य–शास्त्र की परंपराओं का अनुगमन करते हुए नित्य नये प्रयोग कर रहा है।

11.3 रंगमंचीय दृष्टि से 'एक और द्रोणाचार्य'

नाटकों की सार्थकता रंगमंचीयता पर ही निर्भर है, इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भरतमुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में रंगमंच और प्रेक्षागृह के निर्माण सम्बंधी विस्तृत निर्देश दिए थे। बहुत समय तक हिन्दी में ऐसे नाटक भी लिखे गए जिनकी मंचीय प्रस्तुति असंभव नहीं तो बहुत जटिल अवश्य थी। इस कोटि के नाटकों को 'पाठ्य नाटक' की श्रेणी में रखा गया। युग प्रवर्त्तक नाटककार जयशंकर प्रसाद के नाटकों को भी मुख्यतः पाठ्य नाटक के रूप में ही ग्रहण किया गया, उनकी यथावत् प्रस्तुति तो प्रायः असंभव ही रही। जिन रंग–निर्देशकों ने उनकी प्रस्तुति का बीड़ा उठाया, उन्होंने नाटकों में काफी परिवर्तन कर मंच पर प्रस्तुत किया। हिन्दी नाटक के प्रारंभिक काल, भारतेन्दु काल में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि नाटक रंगमंच पर सफल हो सकें। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए स्वयं भारतेंदु एवं भारतेंदु मंडल के उनके साथियों ने स्व–रचित नाटकों में अभिनय किया। बाद में मोहन राकेश के समय से यह पहल हुई कि हिन्दी नाटक को भी मंच की दृष्टि से लिखा गया। लेखक मोहन राकेश अपने 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे–अधूरे' तथा 'लहरों के राजहंस' के रिहर्सलों में स्वयं उपस्थित रहे और अभिनेता तथा मंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर उन्होंने अपने नाटकों के कई–कई ड्राफ्ट लिखे। शंकर शेष, लक्ष्मीनारायण लाल, हमीदुल्ला, असगर वजाहत, मुद्राराक्षस, भीष्म साहनी आदि नाटककारों के नाटकों की सफलता का भी यही रहस्य है कि उन्होंने रंगमंच के अनुरूप नाट्क–सृष्टि की। शंकर शेष के सभी नाटक एकाधिक बार मंच पर सफलतापूर्वक प्रदर्शित किए गए। इसी क्रम में 'एक और द्रोणाचार्य' को भी रंगमंच पर खूब सफलता और प्रसिद्धि मिली।

नाटक की रंगमंच पर सफलता के लिए आवश्यक है कि उसके समस्त तत्त्वों की नियोजना इस रूप में की जाए कि नाटक अपने अभिप्रेत को सार्थक रूप में अपने दर्शकों तक संप्रेषित कर सके। इसी कसौटी पर यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि अभिनेयता और मंच–प्रस्तुति की दृष्टि से 'एक और द्रोणाचार्य' में इन तत्त्वों का निर्वाह किस रूप में हुआ है।

11.3.1 कथावस्तु–

नाटक एक कथात्मक विधा है, तो कथावस्तु इस नाटक रूपी भवन का आधार है जिस पर पूरा ढाँचा खड़ा

होता है। कहना न होगा कि यदि कथावस्तु रोचक न हो तो नाटक मंच पर सफल नहीं हो सकेगा। साथ ही यह कथावस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसमें दर्शक को उसमें अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की झाँकी मिल सके, तभी वह उनके लिए प्रासंगिक और अर्थवान बन सकेगा। यदि यह कथा वर्तमान की किसी समस्या का गंभीरतापूर्वक चित्रण कर उसमें कोई दिशा भी दे सके तो वह और अधिक सार्थक हो जाता है। यदि नाटक की कथा ऐतिहासिक, पौराणिक, मिथकीय आधार लिए हुए हो तो वह तभी प्रभावी बन सकेगी, जब वह वर्तमान के लिए भी प्रासंगिक हो, उसमें अपने इस युग का चित्रण होना नितांत आवश्यक है। राधेश्याम 'कथावाचक' आदि के पौराणिक नाटक किसी समय तो लोकप्रिय रहे थे किंतु आज उनकी सार्थकता नहीं रह गयी है कि वे वर्तमान के लिए कोई संदेश नहीं दे पाते हैं। जयशंकर प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटक इसीलिए इतने महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं कि उनमें अतीत के माध्यम से वर्तमान को खगाला गया है, भले ही अन्य कारणों से उनकी मंच–प्रस्तुति इतनी सफल न रही हो।

शंकर शेष अपने नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' में महाभारतीय कथा के पौराणिक रूप को न अपना कर मिथकीय रूप को अपनाते हैं। पौराणिक कथा में प्राचीन कथा को उल्था–भर कर दिया जाता है किन्तु मिथकीय कथा में उसे वर्तमान से संयुक्त किया जाता है। मिथक की अनिवार्यता ही यह है कि वह अपने में युगबोध को समाहित कर चलता है। आधुनिक युग में जब दलितों, वंचितों और अल्प महत्त्व प्राप्त लोगों की ओर ध्यान गया तो साहित्यिक मानस ऐसे पात्रों की ओर मुड़ा जो उपेक्षित तो थे ही, तत्कालीन समय में उन्हें पूर्ण न्याय नहीं मिला था। अचानक ही नहीं है यह कि काव्य, नाटक, उपन्यास, आदि में उर्मिला, भरत, कैकेयी, कर्ण, एकलव्य जैसे पात्र एक दम लोकप्रिय हो उठे। इसके पीछे यही समाज–ऐतिहासिक कारण थे। शंकर शेष ने वर्तमान शिक्षा जगत की विसंगतियों को दर्शाने के लिए गुरु द्रोणाचार्य की कथा को अपनाया है जो राजकीय सेवा में जाने के पश्चात् अपना विवेक हार कर गलत पर गलत निर्णय लेते चले गए थे। गुरु द्रोण, एकलव्य के साथ न्याय नहीं कर सके थे, द्रौपदी के साथ भी न्याय नहीं कर सके थे। इन्हीं दो बिंदुओं को उठा कर नाटककार शंकर शेष ने प्रो. अरविंद की कथा को महाभारतीय कथा के समानांतर रख आकर्षक बनाया है। मिथक हमारी चेतना में गहरे बसे होते हैं, इसीलिए शिक्षा जगत की वर्तमान विसंगतियाँ दर्शक के मन में सीधे उतरती है। कुतूहल, प्रभाव और रोचकता की दृष्टि से नाटक की कथावस्तु पूरी तरह सफल है।

कथा की संक्षिप्ति भी नाटक के लिए एक आवश्यक गुण है। आज के व्यस्त समय में किसी के पास मनोरंजन के लिए भी पर्याप्त समय नहीं है इसलिए जब दर्शक नाटक देखता है तो वह उसे संक्षिप्त और प्रभावी रूप में ही देखना चाहता है। 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक अत्यंत संक्षिप्त है। क्राउन आकार (छोटे आकार) के पर्याप्त मोटे टाइप में मुद्रित मात्र 100 पृष्ठों की रचना है। यूँ उसमें 108 पृष्ठ हैं किंतु प्रारंभ के 8 पृष्ठ तो नाटक के मुख्य पाठ के अंश नहीं हैं। सौ पृष्ठों में भी कितना ही स्थान विभिन्न रंग संकेत–प्रकाश व ध्वनि व्यवस्था ने ले लिया है। लगभग सवा घंटे में पूरा नाटक मंचित हो सकता है।

मंचन की आधुनिक प्रविधियों और तकनीक का प्रयोग नाटककार ने किया है। पूरे नाटक में 'पूर्वार्द्ध' और 'उत्तरार्द्ध' शीर्षक से दो ही दृश्यबंध हैं जो नाटक के बीच में एक अंतराल–इंटरवल दे कर दर्शक के मस्तिष्क और चेतना पर अधिक बोझ नहीं देने या कहें किसी भी प्रकार की बोरियत–उदासीनता, अनमनापन नहीं आने देते। प्रकाश–व्यवस्था द्वारा दृश्य–परिवर्तन अत्यंत कुशलता से किया गया है। वर्तमान की कथा चलते–चलते उसे एकदम पाँच हज़ार वर्ष के पुराने समय में प्रकाश व्यवस्था द्वारा ही प्रक्षेपित कर दिया जाता है। अभी अभी प्रो० अरविंद की

कथा चल रही है तो तुरंत उसे द्रोण और अश्वत्थामा के समय में उतार दिया जाता है, "धीरे–धीरे अंधकार। अंधकार में बच्चों के रोने की, सिसकने की आवाजें आती हैं। धीरे–धीरे प्रकाश। सात आठ वर्ष का अश्वत्थामा जमीन पर पाँव घिसटाता मचल रहा है।" बिना किसी मंच सामग्री (स्टेज प्रापर्टी)–परिवर्तन के दृश्य–परिवर्तन कर दिया जाता है। 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक की मंच–प्रस्तुति की सफलता का एक यह भी बड़ा कारण है कि इसमें मंच सज्जा के लिए बहुत अधिक ताम–झाम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इस प्रकार रोचकता, वर्तमान के लिए संगति, अपने संदेश को दर्शक तक संप्रेषित करने की क्षमता, संक्षिप्ति आदि कारणों से "एक और द्रोणाचार्य" नाटक की कथावस्तु मंचन की दृष्टि से पूर्ण सफल है।

11.3.2 पात्र सृष्टि और चरित्र चित्रण

पात्रों का नाटक में विशेष महत्व है। नाटककार जो कुछ भी कहना चाहता है, वह पात्रों के द्वारा ही दर्शक तक पहुँचाता है। नाटक में नाटककार की प्रत्यक्ष उपस्थिति लेखकीय टिप्पणी के रुप मे कही भी नही हो सकती, उसकी विचार–सरणि का अनुगमन पात्र ही करते हैं। पात्र–सृष्टि करते समय नाटककार को इस बात का ध्यान रखना होगा कि नाटक में पात्रो की भीड़ इकट्ठी न हो जाए। पात्र–बहुलता दो रुपों में नाटक के मंचन में आड़े आती है, प्रथमतः बहुत अधिक संख्या में अभिनेता और अच्छे अभिनेता जुटा पाना संभव नहीं होता है, विशेषतः छोटे शहरों में यह समस्या और भी विकट हो जाती है। दूसरे, बहुत अधिक पात्रों का पारस्परिक सम्बधं नाटक मे आद्यंत दर्शकों की स्मृति में नहीं रह पाता। इससे दर्शकों का पात्र से सहज तादात्म्य नहीं हो पाता, वे इन पात्रों को अपने मानस में सही ढंग से नही बिठा पाते। बारम्बार दर्शकों को एक दूसरे से यही पूछना पड़ता है कि 'यह कौन है, यह उसका क्या लगता है,' आदि। पात्रों की सृष्टि के साथ–साथ नाटककार को उनका समुचित चरित्र–चित्रण और विकास भी करना चाहिए। उनकी चरित्रगत उन विशिष्टताओं का उदघाटन होना चाहिए जिनकी वर्तमान के लिए संगति हो, साथ ही वे दर्शक के मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ सकें। ऐतिहासिक तथा मिथकीय पात्रों की वे चारित्रिक विशेषताएँ भी सामने आनी चाहिएं जिनकी ओर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया। वे चारित्रिक गुण जो उनके व्यक्तित्व मे अंतर्निहित नही थे किंतु मूल मिथक के रचनाकार ने उस युग मे उनकी महत्ता नहीं समझी। वर्तमान युग में पात्रों की उन चारित्रिक विशेषताओं का प्रकटीकरण किया जाता है जो नाटक की मुख्य समस्या को प्रकाशित कर सकें।

इन दोनों ही कसौटियों पर 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक पूर्णतः सफल उतरता है। नाटक मे कथा के दो सूत्र और धरातल हैं, प्रथम वर्तमान का और दूसरा महाभारतीय युग का। वर्तमान की कथा में मुख्य पात्र हैं।

प्रो० अरविंद

प्रो० की पत्नी लीला

प्रो० विमलेन्दु (स्वर्गीय, किन्तु उसकी आत्मा की उपस्थिति)

प्रिंसीपल

प्रेसीडेंट

प्रो० यदु (प्रो० अरविंद का साथी)

चन्दू (कॉलेज का छात्र)

अनुराधा

कोर्ट में वकील, जज आदि के स्वर

महाभारतीय कथा में

गुरु द्रोणाचार्य

कृपी (गुरु द्रोण की पत्नी)

अश्वत्थामा

अर्जुन

एकलव्य

किसी भी नाटक की पात्र–सृष्टि को तीन वर्गों मे रख कर देखा जा सकता है–प्रमुख पात्र, गौण पात्र तथा नगण्य पात्र। तदनुकूल 'एक और द्रोणाचार्य' के पात्रों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. **प्रमुख पात्र**

प्रो० अरविंद, प्रो० विमलेन्दु, लीला तथा महाभारतीय कथा के गुरु द्रोणाचार्य, कृपी तथा अश्वत्थामा।

2. **गौण पात्र**

प्रिंसीपल, चन्दू, अनुराधा तथा महाभारतीय कथा के अर्जुन, एकलव्य।

3. **नगण्य पात्र**

यदु, कोर्ट के वकील, जज और जिनकी प्रत्यक्ष उपस्थिति नाटक में नहीं है अपितु उनके स्वर–मात्र आए हैं।

शंकर शेष ने 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में अपने प्रमुख पात्रों का चरित्रांकन नाटक की मुख्य समस्या को ध्यान में रख कर इस रूप में किया है कि प्रत्येक पात्र समस्या को किसी न किसी कोण से विश्लेषित करता चलता है। प्रो० अरविंद व्यवस्था द्वारा क्रीत किया गया ऐसा बुद्धिजीवी है जो निरंतर अपनी विवेक बुद्धि को खोता चला जाता है। बारम्बार उसका विवेक उसे सही की ओर जाने को उत्प्रेरित करता है, किन्तु व्यवस्था–प्रिंसीपल, प्रेसीडेंट–उसे वह नहीं करने देते, वह कराते हैं जो उनके अनुकूल हो। प्रो० विमलेन्दु की आत्मा का इस्तेमाल वास्तविकता का साक्षात्कार कराने के लिए किया जाता है, वह बारम्बार प्रो० अरविंद को यथार्थ के धरातल पर उतार कर वस्तु–स्थिति का सही आकलन कराता है। प्रो० अरविंद की पत्नी लीला अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हुई एक साधारण गृहस्थिन के रूप में आती है जो असुविधाओं और अभावों में भी अपनी गृहस्थी की गाड़ी खींचती है और जब उसे अवसर और सुविधाएँ मिल जाती हैं तो वह ठाठ से भी रहना जानती है। 'उत्तरार्द्ध' के प्रारम्भ मे यही दिखाया गया है। गुरु द्रोणाचार्य का चरित्र अपनी मूल अवधारणा से अलग हट कर महाभारतीय कथा के खाली स्पेस को भरता है। महाभारत के द्रोण में आत्म–ग्लानि का लवलेश भी नहीं है किन्तु यहाँ द्रोण अपने आपको धिक्कारते हुए अपने गलत निर्णयों पर पश्चात्ताप करते हैं। पश्चात्ताप मनुष्य को उसके चरित्र की निर्मलता मे प्रतिष्ठित कर देता है, द्रोणाचार्य, एकलव्य से अंगूठा गुरु

दक्षिणा में माँग कर अपने इस कृत्य पर दुखी हैं। उन्हें यह भी दुख है कि उन्होंने दुर्योधन जैसे शिष्य पैदा किए। उन्हें यह परिताप गहरे सालता है कि उनको द्रौपदी को निर्वस्त्र होते हुए देखना पड़ा और वे अपना प्रतिरोध दर्ज नही करा सके। कृपी के चरित्र को प्रो० अरविंद की पत्नी लीला के समानांतर रख कर देखा जा सकता है, अभाव में रहती गृहस्थिन अपने पति से बेहतर जीवन–स्तर माँगती है। अश्वत्थामा का चरित्र अपनी मूल मिथकीय अवधारणा से बिलकुल अलग हट कर एक ऐसी नवीनता लिए हुए है जो दर्शकों का मन मोह लेती है। नयी पीढ़ी का प्रतिनिधि अश्वत्थामा अपने पिता से उनके गलत निर्णयों और कृत्यों का हिसाब मांगता है। गौण पात्रों में अर्जुन सर्वाधिक प्रभावित करता है। वह एकलव्य के साथ हुए अन्याय की कीमत पर विश्व का अद्वितीय धनुर्धर नहीं बनना चाहता है। वह गुरु द्रोणाचार्य से उनके गलत निर्णय का स्पष्टीकरण मांगता है। एकलव्य तथा अन्य गौण पात्र नाटक की समस्या के चित्रण में पूरक की भूमिका निभाते हैं। प्रेसीडेंट, प्रिंसीपल आदि वर्गीय चरित्र हैं जो अपने वर्ग की विशिष्टताओं को दर्शाते हैं। इस प्रकार 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक की पात्र–दृष्टि संख्या की दृष्टि से भी आदर्श है और चरित्र–चित्रण भी प्रभावी रूप मे हुआ है, जो मच प्रस्तुति मे अपने दर्शक को सम्मोहित करने की क्षमता से युक्त है।

11.3.3 कथोपकथन अथवा संवाद

कथोपकथन अथवा संवाद नाटक का प्राणतत्त्व है। नाटककार जो कुछ कहना चाहता है वह अपने पात्रों के द्वारा, अर्थात् उनके संवादों के माध्यम से कहता है। उपन्यास आदि में तो कथाकार की प्रत्यक्ष उपस्थिति के अवसर भी आते हैं किन्तु नाटक मे ये संवाद ही उसकी विचारधारा का वहन करते हैं। संक्षिप्तता और स्वाभाविकता नाटकों के संवादों के दो अनिवार्य तत्त्व हैं। यदि संवाद संक्षिप्त नही होंगे तो उनमें भाषण का आस्वाद आ जायेगा। पात्रानुकूलता भी संवादों में आवश्यक है। पात्रानुकूलता से तात्पर्य है कि वे संवाद पात्रों पर भारी न पड़ें, आरोपित से न दिखाई दें। पात्र के मानसिक स्तर, शिक्षा–दीक्षा, आयु तथा वर्ग के अनुरूप ही उसके शब्द निकलने चाहिए। यदि किसी अशिक्षित से पात्र से कोई गहन–गंभीर चर्चा करा दी जायेगी तो वह बहुत अनुपयुक्त लगेगी, यदि किसी बहुत संभ्रात और सुशिक्षित पात्र से कोई गंवारू सी बात कहला दी जायेगी तो वह भी अशोभनीय प्रतीत होगी। इसलिए पात्रों के संवाद उनके अनुरूप ही ढाले जाने चाहिए। जहाँ कहीं आवश्यक हो उनमें बोलचाल का पुट हो और जहाँ कहीं विषय की मांग हो, बौद्धिक विमर्श के लिए भी स्थान हो। इस प्रकार संवाद–परिकल्पना में नाटककार को बहुत सचेत रहना पड़ता है।

'एक और द्रोणाचार्य' के कथोपकथन उपर्युक्त सभी कसौटियों पर खरे उतरते हैं। सर्वत्र इन संवादों में संक्षिप्तता, स्वाभाविकता और पात्रानुकूलता बनी रही है। प्रो० अरविंद, विमलेन्दु, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, अर्जुन आदि के संवाद यत्किंचित् बड़े भी हैं तो वे विषय की मांग के अनुरूप सुन्दर बन पड़े हैं। कोई भी संवाद स्वगत कथनों के समान सुदीर्घ नहीं हो पाता है। संवादों को साधने में नाटककार ने जिस कलाकारिता का परिचय दिया है, उसे कतिपय उदाहरणों से समझा जा सकता है। संक्षिप्तता और स्वाभाविकता के गुणों की रक्षा करते हुए, बोलचाल का रंग ले कर ऐसे संवाद हैं जो एक–दो शब्दों में ही पात्र का मंतव्य प्रकट कर देते हैं। संक्षिप्तता और बोलचाल की स्वाभाविक भंगिमा के लिए प्रिंसीपल से लीला के संवाद देखे जा सकते हैं, जहां वह थोड़े से या एक–एक, दो–दो शब्दों में ही अपनी बात कह देती है–

"मैं कहां मना करती हूँ ? पर वे मानें तब न ?"

× × ×

"आपको?"

× × ×

"फिर भी ?"

× × ×

"क्या बात इस हद तक जा सकती है ?"

व्यवस्था की भ्रष्टता को उजागर करते और उसके हाथों व्यक्ति के विवेकहीन होते चले जाने की व्यथा को प्रकट करते प्रो० अरविंद, विमलेन्दु के संवाद लंबे हैं किन्तु वे अंत तक दर्शक/पाठक को बांधे रखते हैं। इस संदर्भ में नाटक के लगभग अंत में आए द्रोणाचार्य और विमलेन्दु के संवाद बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। 'एक और द्रोणाचार्य' के सभी पात्र अपने मानसिक स्तर के अनुरूप और समय के अनुरूप वचन बोलते हैं, इससे संवाद–योजना बहुत आकर्षक बन पड़ी है।

11.3.4 देशकाल और वातावरण–

देशकाल और वातावरण का रंगमंच–प्रस्तुति में महत्वपूर्ण स्थान होता है, जिस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नाटक में अतीत दर्शाया जाए, वह मंच पर यथावत् दर्शाया जा सके, तभी नाटक सफल होता है। पहले इसके लिए भारी भरकम मंच–सज्जा या मंच व्यवस्था होती थी किन्तु आधुनिक तकनीक के समय में मंच पर कम से कम सामग्री का प्रयोग कर प्रकाश और ध्वनि (लाइट एंड साउंड) के द्वारा ही देश और काल को साक्षात कर दिया जाता है। 'एक और द्रोणाचार्य' में नाटककार ने इसी प्रविधि से कथा को मंच पर उतारा है। कथा के दो स्तर हैं, एक वर्तमान का, दूसरा महाभारतीय समय का। नाटककार बड़ी कुशलता से, पर्याप्त रंग–संकेत दे कर, एक समय से दूसरे समय मे कथा का प्रक्षेपण कर देता है। महाभारतकालीन पात्र अपनी वेशभूषा और कथन–भंगिमा से उसी काल और वातावरण का बोध कराते हैं। द्रोणाचार्य, कृपी, अश्वत्थामा, एकलव्य, अर्जुन–किसी भी पात्र के वेशभूषा के रंग–संकेत नाटककार ने नहीं दिए हैं। अपितु यह रंग–निर्देशक की कल्पना के लिए छोड़ दिया है। पहले के नाटकों में मंच सामग्री (स्टेज प्रापर्टीज) और पात्रों की वेशभूषा के भी सुदीर्घ रंग–संकेत दिए जाते थे किन्तु आज इसे अनावश्यक मानते हुए नाट्य–निर्देशक की कल्पना के लिए छोड़ दिया जाता है। शंकर शेष इसी तकनीक का प्रयोग कर 'एक और द्रोणाचार्य' में वर्तमान तथा अतीत के कथा–छोरों को मिलाते हैं। नाटककार ने संगीत, वाद्य–संगीत का प्रयोग कर भी वातावरण को करुण अथवा शांत अवसरानुकूल बनाया है। इस प्रकार देश–काल की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक की सफल मंच–प्रस्तुति की जा सकती है।

11.3.5 भाषा शैली

नाटक में भाषा शैली भी मंच प्रस्तुति का एक प्रमुख घटक है। ध्यान कीजिए जयशंकर प्रसाद के नाटकों की भाषा का, वहां मंच–प्रस्तुति में भाषा एक बड़ा व्यवधान बनती है। मोहन राकेश ने नाट्य भाषा को मंचीय संस्कार प्रदान

करने का महत् कार्य किया था। शंकर शेष ने भी अपने नाटकों की भाषा को मंचन की दृष्टि से तराशा था। नाटकीयता और स्वाभाविकता मंचीय भाषा के विशिष्ट गुण हैं। 'एक और द्रोणाचार्य' में लेखक ने इस गुण की सर्जना के लिए भाषा को बहुत संवारा है। उन्होंने अपने शब्दों की सादगी में एक 'सौंदर्य' भाषा में रचा है। अरविंद और उसकी पत्नी लीला के मध्य हुए एक संवाद के उदाहरण से यह बात संपुष्ट की जा सकती है।

"अरविंद–यह प्रिंसीपल का बच्चा क्यों आया था ?

लीला–झख मरने

अरविंद–क्या सीधे मुहँ बात नहीं निकलेगी ?

लीला–सुनता कौन है ?

अरविंद–क्या कह रहा था

लीला–समझा रहा था

अरविंद–तुम्हें ?"

यहाँ भाषा शैली में नाटकीयता का ऐसा गुण आया है जो पढ़ते हुए भी पाठक के मन में पात्र के हाव–भाव, मुद्रा, आदि को प्रत्यक्ष कर देता है। अन्यत्र भी भाषा जहाँ गंभीरता की आवश्यकता है वहाँ गांभीर्य अपना लेती है और जहाँ एक साधारण अपेक्षित है, वह सहज रूप धारण कर लेती है।

11.3.6 उद्देश्य

जब तक नाटक का उद्देश्य गंभीर न हो नाटक (मंच पर) दर्शकों को मोह नहीं पायेगा। 'एक और द्रोणाचार्य' का उद्देश्य और समस्या बड़ी प्रासंगिक है। वह हमारे समाज की एक ज्वलंत और गंभीर समस्या पर उंगली रखती है। शिक्षा–जगत् के कदाचार को तो वह सामने लाती ही है, शिक्षक के कर्तव्य के प्रति भी एक विवेक जगाने का कार्य करती है। शिक्षक ही नहीं, छात्र, प्रेसीडेंट, प्रिंसीपल और यहाँ तक कि शिक्षक–पत्नी को भी सही दिशा का संकेत नाटक में किया गया है। अपने वर्तमान समाज से सीधा–सीधा जुड़ी होने के कारण यह समस्या नाटक के दर्शक, प्रेक्षक को अंत तक बांधे रखती है। इस प्रकार नाटककार जिस उद्देश्य में प्रवृत्त होता है, वह उसकी प्राप्ति में सफल होता है।

11.3.7 रंग–निर्देश

यदि नाटक में आवश्यकतानुसार पर्याप्त रंग–निर्देश दिए हुए हों तो उससे मंच–प्रस्तुति में बहुत सहायता मिल जाती है, निर्देशक का काम काफी हद तक सुगम हो जाता है। इस दृष्टि से शंकर शेष ने 'एक और द्रोणाचार्य' में यथावश्यक रंग–संकेत दिए हैं। पात्रों को अपने संवादों की अदायगी में जो मुद्रा और शैली अपनानी है, उसके लिए कोष्ठक में 'विराम', 'आश्चर्य में', 'उत्तेजित होकर', 'अरविंद की दृढ़ता देखकर', 'कुछ नरम होकर', जैसे संकेत दिए हैं। वातावरण सृजित करने के लिए 'एक गहरा सन्नाटा', 'उछाला जाता है', आदि के संकेत दिए गए हैं। पात्रों के कार्य–व्यापार दर्शाने के लिए 'इस बीच लीला चाय की ट्रे ले कर आती है', कृपी मिट्टी का पात्र लिए है', 'अन्यत्र देखती हुई' जैसे निर्देश दिए गए हैं। इस प्रकार पग–पग पर नाटककार ने चेष्टा की है कि नाटक मंच–प्रस्तुति में

पूरा खरा उतरे। वस्तुतः रंगमंच की दृष्टि से 'एक और द्रोणाचार्य' अत्यंत सार्थक कृति है।

11.5 कठिन शब्द

1. अभिप्रेत
2. संप्रेषित
3. समाहित
4. युगबोध
5. तादात्म्य
6. क्रीत
7. परिताप
8. संभ्रात
9. प्रविधि
10. संपुष्ट

11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. नाटक की सार्थकता रंगमंचीयता पर निर्भर करती है। स्पष्ट करें।

2. नाटक के तत्वों पर विस्तारपूर्वक चर्चा करें।

3. रंगमंचीय दृष्टि से 'एक और द्रोणाचार्य' की सार्थकता पर विचार करें।

11.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. एक और द्रोणाचार्य – डॉ. शंकर शेष।
2. एक और द्रोणाचार्य : एक मूल्यांकन – डॉ. रंजना रा. वर्दे अग्रवाल।
3. डॉ. शंकर शेष : व्यक्तित्व एवं कृतित्व – डॉ सुनीता मंजन बैल।
4. डॉ. शंकर शेष का नाटक साहित्य – डॉ. प्रकाश जाधव।
5. डॉ. शंकर शेष के नाटकों का रंगमंचीय अनुशीलन – डॉ. रमाकांत दीक्षित ।

....

असंगत नाटक की विशेषताओं के संदर्भ में 'तांबे के कीड़े'

12.0 रूपरेखा

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3. असंगत नाटक की विशेषताओं के संदर्भ में 'तांबे के कीड़े

12.4. सारांश

12.5 कठिन शब्द

12.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.7. सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

12.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप :-

1. विद्यार्थियों को साहित्य से अवगत कराना
2. साहित्य में नाटक विधा का ज्ञान प्रदान करना
3. नाटक के उद्देश्य से परिचित कराना
4. असंगत नाटक की जानकारी देना

12.2 प्रस्तावना

मनुष्य एक अनुकरणीय प्राणी है। अनुकृतिर्नाट्यं अर्थात् अनुकरण को ही नाटक कहते हैं। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप विश्व में नाटक का प्रादुर्भाव हुआ। भारत में भी प्राचीनकाल से ही नाटकों की परम्परा रही है। भारत की सभी भाषाओं में नाट्य साहित्य मिलता है। हिन्दी इसका अपवाद नहीं है। हिन्दी में नाटक लेखन के दो स्रोत हैं – भारतीय नाट्य साहित्य और पाश्चात्य नाट्य साहित्य। नाटक को दृश्यकाव्य कहा जाता है। प्रत्येक नाटक मंचन के लिए विरचित होता है। हिन्दी में अनेक नाटककार हुए हैं, जिनमें भुवनेश्वर का नाम भी उल्लेखनीय है। भुवनेश्वर द्वारा 'तांबे के कीडे' असंगत नाटक की रचना हुई है।

12.3 असंगत नाटक की विशेषताओं के संदर्भ में 'तांबे के कीड़े'

मनुष्य के अनुकरणीय प्राणी होने के कारण यह कहा जाता है – अनुकृतिर्नाट्य । विश्व में नाटक लेखन और मंचन की परम्परा युग–युगान्तर से रही है। भारत की लगभग सभी भाषाओं में नाटक लिखे गये हैं। महाकवि कालिदास को विश्व साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककारों में माना जाता है। इसीलिये उन्हें संस्कृत साहित्य में नाटकशिरोमणि माना जाता है। भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर नाटक को सभी साहित्यिक विधाओं में रमणीय और मनोमुग्धकारी कहकर इसका स्थान निर्धारित किया है। हिन्दी में विशेषकर आधुनिककाल में अनेक प्रकार के नाटकों की रचना हुई है। नाटक को दृश्यकाव्य कहा जाता है। नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई, जिसका अर्थ है मानवीय हाव–भावों का प्रदर्शन। नाटक गद्य–पद्य मिश्रित होता है इसीलिए इसे चम्पू काव्य भी कहा जाता है।

हिन्दी नाटक परम्परा के मूल स्रोत भारतीय और पाश्चात्य माने जा सकते हैं। भारतीय नाट्य साहित्य में संस्कृत नाट्यकला की प्रधानता रही है। मूलतः हिन्दी के नाटककारों ने इसी परम्परा का अनुकरण किया है। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के उपरांत पाश्चात्य नाट्य परम्परा का प्रभाव हिन्दी नाटक लेखन पर गंभीर रूप से पड़ा है। भारतीय विद्वानों ने नाटक की परिभाषाएं इस प्रकार की है –

भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक को इस प्रकार परिभाषित किया है– ''नाट्य वह है, जिसमें स्वभावतः लोक का सुख–दुःख समन्वित होता है और जिसका अंगों आदि के द्वारा अभिनय किया जाता है।'' आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नाटक के सन्दर्भ में लिखते हैं – ''नाटक शब्द का अर्थ है नट् लोगों की क्रिया। नट् कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने व किसी वस्तु के स्वरूप में फेरबदल कर देने वाले को व स्वयं दृष्टि लोचन के फिरने को। नाटक में पात्र अपना स्वरूप परिवर्तित करके राजादि का स्वरूप धारण करते हैं व वेशविन्यास के पश्चात् रंगभूमि में स्वीकार्य कार्य साधन हेतु कार्य करते हैं।'' बाबू गुलाबराय ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी है – ''नाटक का सम्बन्ध नट से है, अवस्थाओं की अनुकृति को नाट्य कहते हैं। इसी में नाटक शब्द की अधिक सार्थकता है।''

भारतीय विद्वानों की तरह पाश्चात्य विद्वानों ने भी नाटक को परिभाषित किया है, जिनमें शेक्सपीयर का कथन इस प्रकार है – ''स्वभाव, स्वरूप, बिम्ब, युग, आकृति और उसके प्रभाव को बिम्बित करने वाला दर्पण ही नाटक है।'' इसी क्रम में निकोल महोदय के अनुसार नाटक की परिभाषा इस प्रकार है – ''नाटक जीवन की वह अभिव्यंजक कला है, जिसकी अभिनेता इस रूप में व्याख्या करते हैं कि उनके अभिनीत कार्य–व्यापारों को देखने तथा संवादों को सुनने से एकत्रित प्रेक्षकों में अभिरुचि उत्पन्न हो सके।''

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि नाटक की उपादेयता रंगमंच या अभिनेयता ही उसकी कसौटी है। दर्शकों द्वारा नाटक के मंचन के कारण ही साधारणीकरण, रसास्वादन और मनोरंजन होता है।

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्व माने हैं – वस्तु, नायक और रस। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार नाटक के तत्व इस प्रकार है – कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल और वातावरण, भाषा शैली, उद्देश्य और रंगमंच।

नाटक का समाज के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। दर्शक पात्रों के माध्यम से नाटक के वास्तविक स्वरूप के दर्शन करता है। जैसा कि समाज का आदर्श और यथार्थ रूप नाट्यकला में प्रतिबिम्बित होता है। देशकाल और परिस्थितियों के अनुसार नाटक में पात्रों की वेशभूषा, भाव–भंगिमा, भाषा, स्वरूप और चरित्र का परिचय मिलता है। रंगमंच नाटक का मूलाधार है। अभिनय के द्वारा ही नाटक की प्रभावोत्पादकता उन्नत होती है और दर्शकों पर उसका प्रत्यक्ष और गंभीर प्रभाव पड़ता है। नाटक का अभिनय जितना यथार्थ और कलात्मक होगा उसी में ही नाटक की सफलता अन्तर्निहित है। नाटक में समस्त ललित कलाओं का समावेश होता है। मूलतः नाटक सर्वकला समन्वित है। यही नाटक की उपयोगिता और महत्त्व है।

समाज विविध स्वरूपा है। इसीलिए नाटकों के भी अनेक भेद हैं। नाटक का रूपक भी पर्याय है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपक के 10 भेद हैं और 18 उपरूपक हैं। आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण नाटक के मंचन की सार्थकता और सफलता में अभिवृद्धि हुई है। सिनेमा भी एक प्रकार का मशीनीकृत नाटक है। केवल अन्तर इतना है कि नाटक के पात्र दर्शकों के समक्ष होते हैं, जबकि सिनेमा में अप्रत्यक्ष। आधुनिककाल में हिन्दी नाटकों के भेद निम्नांकित हैं – पौराणिक नाटक, ऐतिहासिक नाटक, समस्या प्रधान नाटक, प्रतीक नाटक, गीति नाट्य। पाश्चात्य विश्वयुद्धों के पश्चात् विभीषिकापूर्ण असंगत नाटकों की रचना प्रचुर मात्रा में पाश्चात्य नाटककारों के द्वारा की गई, जिसका प्रभाव हिन्दी नाट्य साहित्य परम्परा पर भी दृष्टिगोचर होता है।

मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता है परन्तु परिस्थितियों वश सहज वृत्तियों से मनुष्य जानवर है और अपनी बुद्धि से मानव है। इसीलिए मनुष्य को विवेकशील प्राणी कहा जाता है। वह अपने कर्त्तव्यपालन से देवता अथवा दानव बन जाता है। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों में जो विनाश हुआ उसका भयंकर स्वरूप समाज में दृष्टिगोचर होने लगा। मानवीय वृत्तियों के गहराई के आन्तरिक स्वरों को संजोते हुए पाश्चात्य नाटककारों ने जीवन की अतियथार्थवादी परिस्थितियों के सजीव चित्र अंकित किए। इसी ध्वनि से नाटक में अटपटापन उत्पन्न हुआ और असंगत जीवन की परिस्थितियों को वाणी मिली। इन्हीं परिस्थितियों के फलस्वरूप मनुष्य की आत्मा झकझोरने लगी और अंधकार आतंक का भयावह स्वरूप छा गया। मनुष्य जीवन को अर्थहीन समझने लगा तथा निराशावादी हो गया। यहीं से असंगत नाटकों का श्रीगणेश हुआ।

असंगत नाटक को अंग्रेजी में एब्सर्ड कहा जाता है। डॉ. रामसेवक सिंह ने एब्सर्ड नाटक के संबंध में इस प्रकार लिखा है – "द्वितीय महायुद्ध के दौरान जीवन की निस्सारता के तीखे अहसास की असंगतियों में उलझ कर अथवा जीवन तथा जीवन की कार्यप्रणाली से ऊब कर मनुष्य आत्महत्या कर ले तो वह उस अस्तित्व से भी वंचित हो जाएगा जिसके बगैर वह मनुष्य नहीं, इन्हीं उलझनों में फंसे, फड़फड़ाते मानव मन ने जिन नाटकों का सर्जन द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में किया, उन्हें हम एब्सर्ड नाटक कहते हैं।" डॉ. वीणा गौतम

ने एब्सर्ड नाटकों के सम्बन्ध में लिखा है – "इन असंगतिदर्शक नाटकों की संवेदना और कथ्य को रूपायित करने वाले मूलघटक तत्त्व हैं – निस्सारता, अवसाद–विषाद, शून्यता, नैराशयांधकार, नियति, ऊल–जलूल स्थितियाँ।" इसी संदर्भ में वे आगे लिखती हैं – जीवन की विद्रूप, बेहूदी, अनर्गल स्थितियों को आकलित करते हुए एब्सर्ड नाटक व्यक्ति जीवन के आंतरिक कड़वे सत्य को सतह पर लाकर परम्परित आस्था–विश्वासों को तोड़ता है। नये–नये प्रतीकों–बिम्बों के माध्यम से मानव नियति को रेखांकित करने वाले चित्रण के कारण इन नाटकों में भयानक विभत्सता के दर्शन अधिक होते हैं। भयावह, आतंक, नैराशयजनित संत्रास, व्यक्ति की अवश और निरुद्देश्य स्थिति को आन्त्यातिक रूप से चित्रित करने वाले ये एब्सर्ड नाटक ऊपर से हल्के–फुलके लगते हैं, लेकिन इनकी भीतरी सतह विस्फोटक है।

एब्सर्ड नाटकों में अन्य परम्परागत नाटकों की तरह क्रमबद्धता नहीं होती। कथानक का अभाव होता है, असमंजसता होती है। पात्रों का चरित्र–चित्रण नहीं होता। तथा चरित्रों का विकास नहीं होता, संवाद अटपटे, तर्कहीन और असंगत होते हैं। ये निरुद्देश्य होते हैं। इनमें समस्याओं का समाधान नहीं होता है। ये अतिरंजनापूर्ण होते हैं। वस्तुतः एब्सर्ड नाटकों में निराशा की काली छाया होती है, जीवन निस्सार है, जिसका कोई प्रयोजन नहीं होता। इस प्रकार के नाटक भूतों के नृत्य की तरह भयावह होते हैं। इनमें कोई संगति नहीं है और इनमें आशा की किरण ढूंढना व्यर्थ है। यही एब्सर्ड नाटकों की प्रमुख विशेषताएं हैं।

दो विश्वयुद्धों का युद्धक्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा। उसकी लपटें रूस, जापान और अमेरिका तक पहुंची हैं। समस्त मानवजाति भी उन युद्धों से प्रभावित हुई है। इन प्रलयंकारी युद्धों से मानव के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगने लगा। युद्धोपरान्त भयंकर परिस्थितियां उत्पन्न हुई। उन्ही निराशाजनक परिस्थितियों ने पाश्चात्य नाटककारों को एब्सर्ड नाटक लिखने के लिए विवश किया, जिसका प्रभाव हिन्दी नाटककारों पर भी पड़ा। इस धारा के प्रमुख नाटककारों और उनके नाटकों के नाम उल्लेखनीय हैं – विपिन कुमार, 'लोटन' (1974), शंभूनाथ सिंह के 'दीवार की वापसी', काशीनाथ सिंह के 'घोआस' (1982), मुद्राराक्षस के 'कमरजीवा' (1972), हमीदुल्ला के 'उलझी आकृतियां' (1973), मणिमधुर के 'रसगंधर्व', सत्यव्रत सिन्हा के 'अमृत पुत्र' (1974), लक्ष्मीकांत वर्मा के 'रोशनी एक नदी है' (1974), ब्रजमोहन शाह के 'शह ये मात' (1975), लक्ष्मीनारायण लाल के 'सब रंग मोहभंग', नरेन्द्र मोहन के 'नो मैंस लैंड' और भुवनेश्वर के 'तांबे के कीड़े' (1964)

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार भुवनेश्वर का जन्म शाहजहांपुर (उ.प्र.) में सन् 1910 में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा भी वहीं पर हुई थी। उन्होंने कालान्तर में पश्चिम के आधुनिक साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। उनके प्रिय साहित्यकार इब्सन, बर्नार्ड शॉ, जी.एच. लारेन्स और फ्रॉयड आदि रहे हैं। उन्होंने जीवन में कड़वाहट को सहन किया और समाज में फैली विकृतियों को अपनी आंखों से देखा। भुवनेश्वर ने हिन्दी में पाश्चात्य शैली के एकांकियों की परम्परा प्रचलित की। उनकी प्रथम रचना 'श्यामा' एक वैवाहिक जीवन की विडम्बना पर आधारित है। उनकी अन्य रचनाएं – शैतान, एक साम्यहीन साम्यवादी,

प्रतिभा का विवाह, रहस्य–रोमांच, लाटरी, कारवां, मृत्यु, हम अकेले नहीं, सवा आठ बजे, स्ट्राइक और ऊसर आदि प्रकाशित हुई। इन प्रयोगात्मक रचनाओं के अतिरिक्त भुवनेश्वर की नाट्यकला परिपक्व रूप में 'फोटोग्राफर के सामने' और 'तांबे के कीड़े' में दृष्टिगोचर होती है। इन रचनाओं में मनुष्य की अर्थलोलुपता का चित्रण है। इनकी रचनाएं बड़ी प्रभावशाली और मार्मिक हैं। भुवनेश्वर ने दोनों विश्वयुद्धों की विभीषिकाओं की अनुभूति की थी और युद्धों की परिस्थितियों और पाश्चात्य एब्सर्ड नाटककारों की रचना पद्धति से प्रेरित होकर हिन्दी में 'तांबे के कीड़े' एब्सर्ड नाटक की रचना की, जिसे एकांकी भी कहा जाता है। भुवनेश्वर ने अन्य परवर्ती नाटककारों को भी हिन्दी में एब्सर्ड नाटक लिखने की प्रेरणा प्रदान की।

हिन्दी मे एब्सर्ड नाटकों की परम्परा चिरंजीवी नहीं रह सकी क्योंकि पाश्चात्य नाट्यकला से प्रभावित इस नाट्य परम्परा में भारतीय जीवन मूल्यों का बिम्ब नहीं था। भुवनेश्वर द्वारा रचित 'तांबे के कीड़े' एब्सर्ड नाटक में क्रमबद्ध कथानक का अभाव है। सर्वप्रथम अनाउंसर द्वारा झुनझुना हिलाकर नाटक प्रारम्भ होता है। इसी क्रम में एक स्त्री की आवाज सुनाई पड़ती है – ''किसने–'किसने अपनी आत्मा में जीवन के आदि मुहूर्त को सिसकते –सुबकते नहीं सुना?'' फिर अनाउंसर झुनझुना हिलाकर कहती है हम सवालात पैदा करते हैं। हम प्रत्येक कठिन कार्य को सम्भव बना सकते हैं और मृत्यु का मुंह मोड़ देते हैं। जीवन एक संगमरमर के समान है, जो सुख–दु:ख से ओतप्रोत है। इस प्रकार नाटक के कथानक में कोई क्रमबद्धता नहीं है अपितु दृश्यों का परिवर्तन होता रहता है। इसीलिए 'तांबे के कीड़े' एक असंगत नाटक है।

'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक में पात्रों में विचित्रता दिखाई पड़ती है। इस नाटक में पात्रों के चरित्र–चित्रण का अभाव है। इसमें पात्रों की एकरूपता नहीं है और उनका विकास नहीं है, जो नाटक की कथा में गति प्रदान करे। इस नाटक में नर–नारी पात्र हैं। पात्रों में विचित्र प्रकार के परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। इस नाटक में पात्रों की विचित्र और असंगत गतिविधियां हुई हैं। रिक्शावाले पात्र के माध्यम से उसके जीवन का अटपटापन दिखाई देता है, जो एब्सर्ड नाटक की एक पहचान है – ''बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया। मैं दूसरे का बोझ ढोता हूं। मेरे रिक्शे में आईने लगे हैं। मैं आईने में अपना मुंह देखता हूँ। मैं इन सब आइनों में अपना मुंह देखता हूँ। सूरज नहीं रहा। अब धरती पर आईनों का शासन होगा। आईने अब उगने और न उगने वाले बीज अलग–अलग कर देंगे।''

दृश्य परिवर्तन के अन्तर्गत रिक्शावाले के तुरन्त बाद थके हुए अफसर का पदार्पण होता है और उसके जीवन की निराशा प्रकट होती है – ''मैं एक थके हुए अफसर हूँ। (ऊँघा हुआ–सा) मैं ब.... हु.... त.... थ.. .. क.... गया हूँ। अन्धे कुएँ ....एँ में जैसे एक–एक करके चीजें जमा हो जाती हैं। कुएँ की डोर मरी हुई सूखी बिल्ली .... बेबी का जाँघिया टूटा कनस्तर वैसे ही .... वैसे ही .... थकान मेरे अन्दर जमा हो गई है। एक अवसाद और थकान।''

'तांबे के कीड़े' नाटक के संवादों में किसी प्रकार की क्रमबद्धता नहीं है। प्रत्येक पात्र असंगत वाणी बोलता है, जिसका कोई सिर पैर नहीं है। नाटक में कथोपकथन का एक उदाहरण इस प्रकार है –

"एक आवाज : यहां क्या हर वक्त पानी बरसता है? यह कैसी डरावनी घटा उमड़ रही है।

दूसरी : भीग जायेंगे। मर जायेंगे। हम इस तरह अपनी जानें खतरे में नहीं डालेंगे।

तीसरी : तुम बिस्तर में ही रहो। तुम्हें जुकाम है, तुम्हें निमोनिया भी हो सकता है।"

'तांबे के कीड़े' नाटक में संकलनत्रय का पूर्ण अभाव है, जो नाटक की प्रामाणिकता और प्राण होता है। संकलनत्रय के बिना नाटक दर्शकों के लिए अजूबा हो जाता है। एब्सर्ड नाटक में देशकाल और वातावरण निश्चित नहीं होते। यही स्थिति 'तांबे के कीड़े' नाटक की है।

'तांबे के कीड़े' नाटक की भाषा और शैली में भी विचित्रता है। इस नाटक में तत्सम, तद्‌भव, देशज और विदेशज शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। तत्सम शब्दावली के अन्तर्गत – नाटक, शब्द, निर्दय, संसार, दर्पण, ऋतु, मृत्यु आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। तद्‌भव शब्दावली में – बचपन, तांबे, कीड़े, मथना आदि शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है। देशज शब्दावली में – झुनझुना, सिसकता, सुबकता, बादल, लोरियां, बाबा, बीज आदि शब्दों का प्रयोग परिलक्षित होता है। 'तांबे के कीड़े' नाटक में विदेशी शब्दावली अरबी–फारसी और अंग्रेजी का सर्वाधिक प्रयोग मिलता है। अरबी–फारसी शब्दावली में आदमी, रेश्मी, सरो सामान, आवाज, मशरूफ, औरत, औसत, तलाश, सवालात, तहजीबयाफ्ता, बेहद, जोशीला आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'तांबे के कीड़े' नाटक की पंक्ति ड्राईंग रूम से प्रारम्भ होती है। अतः इस नाटक में अंग्रेजी शब्दावली की भरमार है, जैसे – अनाउंसर, अफसर, स्क्रीन, कैमिस्ट्री, निमोनिया, पैंडीज डिजीज, आडिटोरियम, फिलिंग्स, स्पीच, क्रैक ए जोक, क्रैक ए पिन, आटोग्राफर, सूटर, कम्पनी, स्टैचू, प्राब्लम, सैंट्रलसिगनिफिकेन्स, न्यूरोटिक, निरोसिस। इस नाटक में वाक्यों की संरचना में भी क्रमबद्धता दिखाई नहीं पड़ती।

'तांबे के कीड़े' नाटक की शैली विविध स्वरूपा है। कहीं भावुकता का समावेश है, कहीं शब्दाडम्बर की झलक है। नाटक में प्रश्नवाचक और सम्बोधन वाचक शैलियों का प्रयोग भी हुआ है। यत्र–तत्र नाटकीय शैली या संवादात्मक शैली के दर्शन होते हैं परन्तु शैली में अस्पष्टता की झलक मिलती है।

'तांबे के कीड़े' नाटक का उद्देश्य दर्शकों का सर्कस की तरह मनोरंजन करना है। इस नाटक का मूल उद्देश्य धनलोलुपता है। इसमें कहीं पर भी क्रमबद्धता दिखाई नहीं पड़ती। इसका नामकरण भी सार्थक नहीं है, जो इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है।

रंगमंच की दृष्टि से 'तांबे के कीड़े' नाटक एक खेल–तमाशा है। इस नाटक के संदर्भ में यह लोकोक्ति सार्थक रूप में चरितार्थ होती है – कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानुमति ने कुनबा जोड़ा।

12.4 सारांश

अतः कहा जा सकता है कि 'तांबे के कीड़े' एक असंगत (एब्सर्ड) नाटक है क्योंकि इसमें असंगत नाटक की असंगतियों का पूर्णरूपेण समावेश हुआ है।

12.5 कठिन शब्द

1. प्रादुर्भाव 2. विरचित 3. अनुकृति 4. अभिनीत 5. अनर्गल
6. अतिरंजना 7. चिरंजीवी 8. अभिव्यंजक

12.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हिन्दी नाटक का उद्‌भव और विकास स्पष्ट कीजिए।

2. परम्परागत नाटक और एब्सर्ड नाटक के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

3. एब्सर्ड (असंगत) नाटक की परिभाषा देकर उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

4. असंगत नाटक के संदर्भ में 'तांबे के कीड़े' की समीक्षा कीजिए।

12.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. डॉ. दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक का उद्‌भव और विकास, राजपाल एंड संस, दिल्ली
2. डॉ. वीणा गौतम, हिन्दी नाटक : आज तक, शब्द सेतु प्रकाशन, दिल्ली
3. डॉ. रामसेवक सिंह, एब्सर्ड नाट्य–परम्परा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

....

'तांबे के कीड़े' की प्रतीक–योजना

13.0 रूपरेखा

13.1 उद्देश्य

13.2 प्रस्तावना

13.3. 'तांबे के कीड़े' की प्रतीक योजना

 13.3.1 प्राकृतिक प्रतीक

 13.3.2 सांस्कृतिक प्रतीक

 13.3.3 ऐतिहासिक प्रतीक

 13.3.4 दैनिक जीवन से सम्बन्धित प्रतीक

 13.3.5 नवीन प्रतीक

13.4. सारांश

13.5 कठिन शब्द

13.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.7. सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

13.1 उद्देश्य

1. विद्यार्थियों को साहित्य का ज्ञान देना।
2. नाटक विधा से परिचित कराना
3. तांबे के कीड़े की जानकारी देना
4. तांबे के कीड़े में प्रतीक योजना का परिचय कराना

13.2 प्रस्तावना

भुवनेश्वर ने पाश्चात्य एब्सर्ड नाटकों की संरचना से प्रभावित होकर हिन्दी में असंगत नाटक लिखने का श्रीगणेश किया। उन्होंने दोनों विश्वयुद्धों की विभीषिकाओं को अपनी आंखों से देखा था। यह परिदृश्य इतना

दर्दनाक और भयावह था, जो कल्पनातीत था। विश्वयुद्धों के पश्चात जो भयंकर दृश्य इस धरती पर 'हॉरर आफ वार' देखे गये, उनसे पाश्चात्य असंगत नाट्यकारों का दिल दहल गया। विश्वयुद्धों का दुष्परिणाम केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि समस्त भूमण्डल भी इनसे प्रभावित और कम्पायमान हुआ। भारत भी इस परिदृश्य का अपवाद नहीं है क्योंकि भारत उस समय पराधीन था और अंग्रेजी सत्ता के आदेशानुसार लाखों भारतीय सैनिक इन विश्वयुद्धों में कालकलवित हुए थे। भुवनेश्वर को भी इन परिस्थितियों के फलस्वरूप हिन्दी में असंगत नाटक लिखने की बलवती प्रेरणा मिली, जिसके परिणाम स्वरुप 'तांबे के कीड़े' की रचना की है।

13.3 तांबे के कीड़े की प्रतीक योजना

भुवनेश्वर के असंगत नाटक परम्परागत हिन्दी नाट्य शैली से भिन्न प्रकार के हैं। इनकी शिल्पगत संरचना भी पूर्णतया परम्परागत नाटकों से अलग है। असंगत नाटकों में क्रमबद्ध कथानक का अभाव रहता है। इनमें विभिन्न प्रकार के दृश्यों का समायोजन होता है, जो केवल दर्शकों में कौतूहल उत्पन्न करता है, जिसका कोई सिर–पैर नहीं होता। चरित्र–चित्रण भी इनमें बिखरा हुआ रहता है। इन नाटकों के संवाद अजीबो गरीब होते हैं। इन नाटकों के अभिनय करने में विभिन्न प्रकार के उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है। इनके बिम्ब और प्रतीक भी अस्पष्ट होते हैं और परम्परागत तरीकों से भिन्न होते हैं।

किसी भी रचना के शिल्पगत अवयव भाषा, शैली, मुहावरे, लोकोक्ति, सूक्ति, अलंकार, छन्द, बिम्ब और प्रतीक होते हैं। प्रतीक अंग्रेजी के सिम्बल शब्द का हिन्दी पर्याय है। प्रतीक अमूर्त का मूर्त स्वरूप होता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग–1 में प्रतीक के विषय में इस प्रकार उल्लेख मिलता है – "प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य वस्तु के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य, अमूर्त, अप्रस्तुत, अश्रव्य का दृश्य, मूर्त, प्रस्तुत, श्रव्य विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समान रूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है।" एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका ने प्रतीक के सम्बन्ध में लिखा है – "प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य वस्तु के लिए होता है, जो किसी अन्य वस्तु के अप्रत्यक्ष सादृश्य को मानस गोचर करती है, जिसकी अनुभूति उस वस्तु के साथ संसर्ग के द्वारा होती है।" सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान अर्बन ने प्रतीक को इस प्रकार परिभाषित किया है – "कला सम्बन्धी प्रतीक सदैव अनुभूति का गोचर या कल्पित विषय होता है, जो कोई मानसिक विषय होता है, जो किसी मानसिक विषय सामग्री की ओर संकेत करता है या उसे स्वयं में समाहित रखता है।" इसी प्रकार मल्लारमे ने भी प्रतीक की परिभाषा इस प्रकार की है – "प्रतीक वह माध्यम है, जिसमें सभी अर्थों और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के स्तरों का ऐसे ढंग से समन्वय किया जा सकता है, जो स्पष्ट व्याख्या में असम्भव है।"

वस्तुतः जिस रचनाकार या कलाकार में गूढ़ और स्वाभाविकता के साथ अभिधा में व्यक्त करने में असमर्थता रहती है, तो उसे वह एक ऐसे माध्यम द्वारा व्यक्त करता है, जिससे वह अनुभूति सफल और प्रेषणीय बन जाती है। इसी को प्रतीक कहा जाता है। इसीलिए प्रतीक–विधान में साहित्यकार को लक्षणा और व्यंजना का आश्रय लेना पड़ता है।

प्रतीकों के प्रकारों की सीमा रेखा खींचना सम्भव नहीं है क्योंकि यह ब्रह्माण्ड अनेक गूढ़ रहस्यों से ओतप्रोत हैं। विद्वान समालोचकों ने स्थूल रूप से प्रतीकों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है – प्राकृतिक प्रतीक, सांस्कृतिक प्रतीक, पौराणिक प्रतीक, ऐतिहासिक प्रतीक, सैद्धान्तिक प्रतीक, धार्मिक प्रतीक। उक्त प्रतीक परम्परागत हैं। असंगत नाटकों में इन परम्परागत प्रतीकों के अतिरिक्त नवीन प्रतीकों का वर्णन भी मिलता है। ये प्रतीक अस्पष्टता लिए हुए हैं। 'तांबे के कीड़े' नाटक की प्रतीक–योजना को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है –

13.3.1 प्राकृतिक प्रतीक

प्रकृति से सम्बन्धित प्रतीक प्राकृतिक प्रतीक कहलाते हैं। इनमें दृश्य, जगत, पशु–पक्षी आदि का समावेश होता है जैसे सूर्य प्रकाश का, चन्द्रमा शीतलता का, पृथ्वी गंध का, अग्नि ऊष्णता का, पवन स्पर्शता का, कमल पवित्रता का, गाय भोलेपन का, समुद्र गंभीरता का, आकाश निर्लिप्तता और असीमता का और गंगा पवित्रता का प्रतीक है। 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक धन लोलुपों और शोषकों का प्रतीक है। आधुनिक युग बाजारवाद का युग है। इसमें प्रत्येक चेतन और अचेतन वस्तु कामोडिटी है। भुवनेश्वर के असंगत नाटक 'तांबे के कीड़े' में इस बाजारवाद के दृश्य का वर्णन इस प्रकार हुआ है – "आओ, हम इसे किसी बाजार में बेच दें। मृत्यु और नाश की इस निर्दय कैमिस्ट्री को क्षण भर में खत्म कर दें, कि हम इन आंखें तरेरते सवालों से बच सकें। हम वही भूली हुई भाषा याद करते रहते हैं – "एक पत्थर .... एक पत्ती .... एक शब्द।" इस नाटक में प्रकृति का असंगत रूप इस प्रकार वर्णित है – "बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया। मैं दूसरे का बोझ ढोता हूँ। मैं दूसरे का बोझ ढोता हूँ।"

13.3.2 सांस्कृतिक प्रतीक

संस्कृति से सम्बन्धित प्रतीक सांस्कृतिक प्रतीक कहलाते हैं। सांस्कृतिक प्रतीकों का परम्परागत हिन्दी नाटकों में प्रचुर मात्रा में प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक इसी तथ्य का परिचायक है, जिसमें परम्परागत संस्कृति का पूर्णतया अभाव है। यत्र–तत्र अपसंस्कृति के दर्शन अवश्य होते हैं। 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक में दो विश्वयुद्धों के परिवर्तित मानव समाज के विकृत रूपों का मर्मस्पर्शी चित्रण है, जिसका एक उदाहरण देखने योग्य है –

"जीवन का संगमरमर।
जीवन का हसीन संगमरमर।
जीवन का घायल संगमरमर।
खून बहता हुआ
संगमरमर।"

इस नाटक में संगमरमर मानव समाज के सौन्दर्य, सुख–शांति और समृद्धि का प्रतीक है, जो विश्वयुद्धों के कारण विनाश में परिवर्तित हो गया है।

13.3.3 ऐतिहासिक प्रतीक

इतिहास की घटनाओं से सम्बन्धित प्रतीक ऐतिहासिक प्रतीक कहलाते हैं। 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक में दो विश्वयुद्धों की भयानक और घातक घटनाओं के इतिहास से समस्त मानव जाति सुपरिचित है। इन घटनाओं के विकृत रूपों ने अन्य असंगत नाटकों की रचना के लिए पाश्चात्य नाटककारों को प्रेरित किया, जो युद्धों के हाहाकार से भलीभांति परिचित थे। इन्हीं से प्रभावित होकर भुवनेश्वर ने 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक की रचना की। विश्वयुद्धों के पश्चात समाज में अनेक विकृतियां उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप अनेक लोग न्यूरोटिक हो गए। यह ऐतिहासिक युग अनेक प्रकार की विकृतियों से ओतप्रोत हो गया, जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है – "बात यह है कि यह हमारे पति बड़े मसरूफ रहते हैं। कभी–कभी यह अपने दिमाग को आराम देने के लिए ऊट–पटांग बातें करने लगते हैं। बिल्कुल पागल आया की तरह।" यह मानस विकृति या मनोरोग का प्रतीक है।"

13.3.4 दैनिक जीवन से सम्बन्धित प्रतीक

रोजमर्रा की जिन्दगी से सम्बन्धित प्रतीक दैनिक जीवन से सम्बन्धित प्रतीक कहलाते हैं। भुवनेश्वर द्वारा विरचित 'तांबे के कड़े' असंगत नाटक में दैनिक जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रतीक दृष्टिगोचर होते हैं। अफसर अपनी अफसरी करके थक जाते हैं, रिक्शावाले अपने रिक्शा चलाकर अपनी आजीविका चलाते हैं। दैनिक जीवन से सम्बन्धित प्रतीक का एक उदाहरण इस प्रकार है – "बड़ा अफसर : "मैं एक थका हुआ अफसर हूँ। (ऊँघा हुआ–सा) मैं ब.... हु.... त.... थ.... क.... गया। अन्धे कुएँ ....एँ में जैसे एक–एक करके चीजें जमा हो जाती हैं। कुएँ की डोर....मरी हुई सूखी बिल्ली बेबी का जाँघिया टूटा कनस्तर वैसे ही .... वैसे ही .... थकान मेरे अन्दर जमा हो गई है। एक अवसाद और थकान।

(तेजी से) आह, अफसर! आगे देखकर चलो। (टकरा जाता है) आह, तुमने मेरा एक आईना तोड़ दिया।"

13.3.5 नवीन प्रतीक

परम्परागत नाटकों में वाद्ययंत्रों का प्रयोग होता था। असंगत नाटकों में नए प्रतीकों का प्रयोग देखने को मिलता है। परम्परागत नाटकों में सूत्रधार नाटक का निर्देशन या संचालन करता था। असंगत नाटकों में नए प्रतीकों के माध्यम से 'तांबे के कीड़े' नाटक में सूत्रधार के स्थान पर अनाउंसर और वाद्ययंत्र के स्थान पर बच्चों का खिलौना झुनझुना का प्रयोग करके नाटक का निर्देशन और दृश्यांतर हुआ है, जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है – "अनाउंसर (हाथ के झुनझुने को हिलाकर) अकेले और बे सरो–सामान हम इस संसार में आए।"

13.4 सारांश

अतः कहा जा सकता है कि 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक की प्रतीक– योजना परम्परागत हिन्दी नाटकों के प्रतीक–विधान से भिन्न है, जो अस्पष्टता के दोष से युक्त है। इस नाटक में निराशा, हताशा, पराजित

मनोवृत्ति, अनास्था, संत्रास, घुटन, पलायनवाद आदि असंगतियों व विद्रूपताओं का निदर्शन हुआ है। इस नाटक के अफसर नौकरशाही का प्रतीक हैं और रिक्शावाला शोषित श्रमिक वर्ग का प्रतीक है।

13.5 कठिन शब्द

1. परिदृश्य 2. समायोजन 3. साहचर्य
4. संसर्ग 5. निर्लिप्तता 6. दृश्यांतर

13.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. असंगत नाटक के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डालिए।

2. प्रतीक से क्या अभिप्राय है? प्रतीकों के प्रकार स्पष्ट कीजिए।

3. परम्परागत नाटक और असंगत नाटक में प्रयुक्त प्रतीकों का अंतर स्पष्ट कीजिए।

4. 'तांबे के कीड़े' की प्रतीक–योजना पर प्रकाश डालिए।

13.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. डॉ. रमेश गौतम, हिन्दी नाटक : नई परख, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली
2. डॉ. सोमनाथ गुप्त, हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, हिन्दी भवन, इलाहाबाद
3. डॉ. शांति मलिक, हिन्दी नाटकों की शिल्प–विधि का विकास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
4. डॉ. रामसेवक सिंह, एब्सर्ड नाट्य–परम्परा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

....

'तांबे के कीड़े' की भाषिक विशेषता

14.0 रूपरेखा

14.1 उद्देश्य

14.2 प्रस्तावना

14.3. 'तांबे के कीड़े' की भाषिक विशेषता

- 14.3.1 तत्सम शब्दावली
- 14.3.2 तद्‌भव शब्दावली
- 14.3.3 देशज शब्दावली
- 14.3.4 विदेशज शब्दावली

14.4 शैली

- 14.4.1 नाटकीय शैली
- 14.4.2 संवाद और प्रश्नोत्तर शैली
- 14.4.3 भावात्मक शैली
- 14.4.4 विचारात्मक या वैज्ञानिक शैली
- 14.4.5 वर्णनात्मक शैली

14.5 सारांश

14.6 कठिन शब्द

14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.8 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

14.1. उद्देश्य

1. विद्यार्थियों को साहित्य का ज्ञान कराना।
2. असंगत नाटक से परिचित कराना।

3. नाटक की शिल्प–विधि की जानकारी देना।

4. असगत नाटक की भाषिक विशेषता समझाना।

14.2 प्रस्तावना

भाषा मानव समाज के भावों और विचारों के आदान–प्रदान का माध्यम है। यदि भाषा नहीं होती, तो समस्त मानव जाति गूंगी होती। आज संसार में जो मानवजाति का पारस्परिक व्यवहार है, वह नहीं होता और न ही सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और वैज्ञानिक दृष्टि होती। समस्त उन्नति का श्रेय भाषा को जाता है। सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भाषा की महत्ता के संदर्भ में कथन इस प्रकार है – "भाषा की समृद्धि से उसके बोलने वालों का जीवन–स्तर ऊँचा उठता है, उनमें कार्य कारण परम्परा को सही–सही समझने की शक्ति विकसित होती है और उनके चरित्र में नैतिक निष्ठा का विकास होता है। राष्ट्र के सामूहिक सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने का यह सर्वोत्तम उपाय है।" भाषा में विषयानुकूल परिवर्तन होता है इसीलिए भाषा विविध स्वरूपा है। प्रत्येक विषय की पारिभाषिक शब्दावली भाषा प्रदान करती है। भाषा समाज की सम्पत्ति होने के कारण निरन्तर परिवर्तनशील होती रहती है। भाषा में समन्वय शक्ति है। इसीलिए अन्य भाषाओं की शब्दावली को भी वह आत्मसात कर लेती है।

14.3 'तांबे के कीड़े' की भाषिक विशेषता

'तांबे के कीड़े' की भाषा परम्परागत नाटकों की शब्दावली से किंचित नवीनता लिए हुए है। 'तांबे के कीड़े' की भाषिक विशेषताएं इस प्रकार हैं – 'तांबे के कीड़े' की तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज शब्दावलियों के आधार पर भुवनेश्वर ने नवीन प्रयोग किए हैं। 'तांबे के कीड़े' की भाषिक विशेषताओं को शब्दावली, भाषा–भंगिमा, शैली, बिम्ब, प्रतीक, मुहावरे, लोकोक्ति, सूक्ति आदि उपकरणों के माध्यम से कौतूहलजनक प्रतीत होते हैं।

14.3.1 तत्सम शब्दावली

जहां संस्कृत के शब्दों का ज्यों–का–त्यों प्रयोग होता है, वह तत्सम शब्दावली कहलाती है। 'तांबे के कीड़े' नाटक में तत्सम शब्दावली का प्रयोग स्वाभाविक है – स्वप्निल नाटक, स्त्री, आत्मा, महिला, मुहूर्त, रमणी, अंधकार, भाषा, जीवन, मृत्यु, शरीर, अनन्त, आंदोलन, संसार, जीवन, दर्पण, शासन आदि।

14.3.2 तद्भव शब्दावली

तत्सम शब्दावली निर्मित शब्दों को तद्भव कहा जाता है, जिसका अर्थ है – उससे बना। 'तांबे के कीड़े' नाटक में तद्भव शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है, जिसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं – तांबा, कीड़े, तिब्बती, हाथ, पत्थर, बत्तियां, सूरज, मुंह, घण्टी, मथना, मक्खियां, संवारने, सात, चिड़िया, बरसात आदि।

14.3.3 देशज शब्दावली

देशज शब्द लोकभाषा की शब्दावली है, जिनका शब्दकोशों में कम प्रयोग मिलता है। इनका प्रचलन लोक में ही होता है। ये लोकसाहित्य के अभिन्न अंग हैं। 'तांबे के कीड़े' में यत्र–तत्र देशज शब्दावली का प्रयोग हुआ है,

जिसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं – साफा, झुनझुना, कौन–कौन, सिसकते, सुबकते, भूला, खोया, अंजान, लोरियां, सिराहना, भीगना, डरावना, बोना, काटना, सड़ना, बोझ, खोपड़े, जांघिया, झुर्रियां, फोड़ना, गोलमाल, कड़क, ऊट–पटांग, सीटी, ठोकर, चमकीली, अच्छा, उछल–कूद, लोट–पोट, बचपन, देहाती, बाबा, फीका, कुण्डा, भद्दी आदि।

14.3.4 विदेशज शब्दावली

प्राचीनकाल से भारत का सम्बन्ध विदेशों से सांस्कृतिक और व्यापारिक रहा है। इसीलिए भारतीय भाषाओं में विदेशी शब्दावली का समावेश होता आया है। भारत में दीर्घकाल तक मुस्लिम राज रहा है। अरबी और फारसी मुसलमानों की धार्मिक, साहित्यिक और राजकाज की भाषाएं रही हैं, जिसके कारण केवल हिन्दी में ही नहीं बल्कि भारत की अन्य भाषाओं में भी उक्त भाषाओं की शब्दावली का प्रचुर समावेश हुआ है। इन भाषाओं की शब्दावली का प्रयोग हिन्दी में सर्वाधिक देखा जा सकता है। इसीलिए 'तांबे के कीड़े' नाटक में अरबी–फारसी की शब्दावली का नाटककार भुवनेश्वर ने प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। जैसे – आदमी, परेशान, मसरूफ, पागल, आवाज, कमरबंद, सरोसामान, मर्दानी, रास्ता, सवालात, शुरूआत, कायल, वीरान, संगमरमर, खून, जुकाम, मशालची, ईजाद, आईना, खूबसूरती, अजनबी, इंतजार, वायदा, बीमार, तबीयत, कोशिश, साहब, शीशा, बेहद लालिमा, कायम, आराम, बीमार, यकीन, मतलब, लापरवाही, शायद, बेकार, गुस्सा, ख्वाहिश, जिंदगी, बीबी, रेशमी, बिस्तर, तहजीबयाफ्ता, मुसीबत, बेमतलब, किताब, जोशीली आदि। अंग्रेजों का राज भी भारत में लगभग 200 वर्षों तक रहा है। स्वतन्त्र भारत में भी अंग्रेजी का बोलबाला है। इसी कारण नाटककार भुवनेश्वर ने 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक में अंग्रेजी शब्दावली का बढ़–चढ़ कर प्रयोग किया, जो 'तांबे के कीड़े' नाटक की एक भाषिक विशेषता भी है। अंग्रेजी शब्दावली का 'तांबे के कीड़े' नाटक में प्रयोग इन शब्दों में द्रष्टव्य है – ड्राईंगरूम, अनाउंसर, रिक्शा, साईज, स्क्रीन, डेसि गाउन, कैमिस्ट्री, फुटलाइट, निमोनिया, बैंनडीज, अफसर, फीलिंग्स, सूटर, करैक्टर, ऑडिटोरियम, क्रैक, जोक, रिस्टवाच, स्पीच, लाइब्रेरी, वार्निश, स्टैच्यू, आटोग्राफ, प्राब्लम, सैंट्रल, सिग्नीफिकेंस, न्यूरोटिक, न्यूरोसिस, सर्कस आदि।

वस्तुतः कहा जा सकता है कि भुवनेश्वर का भाषा पर बड़ा अधिकार है। 'तांबे के कीड़े' नाटक इसका साक्षात प्रमाण है।

14.4 शैली

शैली कवि या गद्यकार के व्यक्तित्व की परिचायक है। रचनाकार की रचना पद्धति को शैली कहते हैं। शैली अंग्रेजी शब्द स्टाइल का हिन्दी रूपान्तर है। पाश्चात्य विद्वान बफन का कथन है – **Style is the man himself** अर्थात् शैली ही व्यक्तित्व है। रचनाकार का जैसा व्यक्तित्व होगा, उसी प्रकार उसकी शैली होगी। नाटककार भुवनेश्वर के 'तांबे के कीड़े' में विविध शैलियों का रूप दृष्टिगोचर होता है। 'तांबे के कीड़े' नाटक की शैलियां इस प्रकार हैं – नाटकीय शैली, संवाद शैली, प्रश्नोत्तर शैली, सम्बोधन शैली, वर्णनात्मक शैली, भावात्मक शैली और विचारात्मक शैली आदि।

14.4.1 नाटकीय शैली

'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक में विविध शैलियों के उदाहरण मिलते हैं। नाटकीय शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है –

अनाउंसर : "(हाथ के झुनझुने को हिलाकर) अकेले और बे सरो–सामान हम इस संसार में आए। (स्क्रीन के पीछे से कुछ गम्भीर मर्दानी आवाजें)

कौन–कौन यहाँ सदा अकेला नहीं रहा?

किसने–किसने अपने पड़ोसी का चेहरा पहचाना?"

14.4.2 संवाद और प्रश्नोत्तर शैली

'तांबे के कीड़े' नाटक में संवाद और प्रश्नोत्तर शैली के दर्शन भी होते हैं, जिसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

स्त्री का स्वर : "ओफ, तुम्हारा इन्तजार करते–करते तो हम बूढ़े हो चले थे। यही तुम्हारा सात बजे आने का वायदा है ? यह क्या ? तुम्हारा चेहरा क्यों उतरा है ? तुम क्या बीमार हो ? डर गए हो कहीं ? क्या बात है ? तुमने कहीं कुछ देखा है?

मसरूफ पति : मैंने कुछ देखा है जरूर, लेकिन इस वक्त मालूम होता है, मैंने देखा नहीं सिर्फ सुना है।"

14.4.3 भावात्मक शैली

'तांबे के कीड़े' नाटक में अनेक पात्र भावावेश में आकर बोलते हैं, जिसके कारण दर्शकों में उत्सुकता उत्पन्न होती है और दर्शकों का ध्यान पात्रों की ओर बरबस खींचा चला जाता है। इस नाटक में भावात्मक शैली का एक अनूठा उदाहरण इस प्रकार है –

मसरूफ पति : "(जोशीली स्पीच) मैं इसके खिलाफ लड़ूंगा। मैं आन्दोलन करूँगा। मैं मुल्कों से सुलह करूँगा और उन्हें तोड़ूँगा। मैं आलमगीर लड़ाइयाँ करूँगा। देखो मैं क्या–क्या करता हूँ। मैं बड़ी–बड़ी लाइब्रेरियों में आग लगा दूँगा। मैं शहरों और पर्वतों को स्याही की बूँद की तरह नक्शे से पोछ दूँगा। यह आदमी है, जानवर नहीं है। यह रिक्शेवाला अन्धा कुआँ है। मेरी बीबी बादलों में रहती है।"

14.4.4 विचारात्मक या वैज्ञानिक शैली

'तांबे के कीड़े' नाटक में विचारात्मक या वैज्ञानिक शैली के दर्शन भी होते हैं, जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है –

एक आवाज : "हमारी सबसे ताजी ईजाद काँच के सूटर। इनको सिर्फ 'तांबे के कीड़े' खा सकते

हैं। (कुछ रुककर) हमारी इससे भी ताजी ईजाद – 'तांबे के कीड़े'। यह बुलाने से बोलते और हँसाने से हँसते हैं ... 'तांबे के कीड़े'।

14.4.5 वर्णनात्मक शैली

वर्णन का सम्बन्ध वर्णनात्मक शैली से होता है। 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक में वर्णनात्मक शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है –

अनाउंसर : ''नहीं, अभी खत्म कहाँ हुआ? अभी तो दो मिनट का एक नाच–गाना और है। और न जाने इस गाने से अन्त करने में नाटक लिखने वाले का क्या मतलब है! मेरी समझ से तो पूरे नाटक में ही कुछ हल नहीं होता। पूछे जाने पर नाटक लिखने वाला शायद कुछ ऐसा कहेगा कि जिन्दगी और नाटक का प्रॉब्लम एक ही है – यानी लम्हे को मुकम्मिल कर देना। विरोध और विद्रोह को एकस्वर करना और उनमें एक केन्द्रीय महत्त्व यानी 'सेंट्रल सिगनिफिकेन्स' हासिल करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नजर को उकसाए।

लेकिन यह सब बेबात की बातें हैं सभी न्यूरोटिक इसी तरह की बातें करते हैं। मेरी समझ में इस नाटक का लेखक न्यूरोटिक है। हमें जो रुचा नहीं, जो हमारे विचारों के साँचे में अटता नहीं, उसे हम न्यूरोसिस न कहें तो क्या कहें। इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है, वह हमें खाहमखाह भरम में डाल रहा है।''

14.5 सारांश

वस्तुतः कहा जा सकता है कि नाटककार भुवनेश्वर ने अपने नाटक 'तांबे के कीड़े' में परम्परागत नाटकों की शैलियों का परित्याग करके नवीन शैलियों का परिचय दिया है, जो पाठकों और दर्शकों के लिए कौतूहलजनक है। लेखक ने पाश्चात्य एब्सर्ड नाट्यकारों की शैलियों का प्रयोग करके हिन्दी नाट्य साहित्य को एक नूतन विधा प्रदान की है। पश्चिम में एब्सर्ड नाटक विश्वयुद्धों के उपरांत लिखे गये थे, जिनके उन नाटककारों ने भयानक दृश्य अपनी आंखों से देखे थे और जनता में हा–हाकार मच गया था तथा जनता दिग्भ्रमित हो गई थी। इसका नाटककारों की मनःस्थिति पर जो प्रभाव पड़ा,उसी के फलस्वरुप असंगत नाटकों की रचना हुई। इन नाटकों की भाषिक संरचना भी कथानकों की तरह असम्बद्ध और अव्यवस्थित थी। हिन्दी के नाटककार भुवनेश्वर ने उन्हीं पाश्चात्य एब्सर्ड नाटककारों की शैलियों के अनुकरण पर 'तांबे के कीड़े' नाटक की हिन्दी में रचना की। 'तांबे के कीड़े' नाटक में अनेक भाषाओं की शब्दावलियों का बड़ी कुशलता से प्रयोग किया गया है। इस नाटक की यही भाषिक विशेषता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि नाटककार भुवनेश्वर का भाषा पर बड़ा जबरदस्त अधिकार है, जिसका साक्षात् स्वरुप 'तांबे के कीड़े' नाटक है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार बहुभाषाविद् है। उन्होंने 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक में लगभग सभी प्रकार की शैलियों, लोकोक्तियों, मुहावरों, बिम्बों, प्रतीकों, सूक्तियों और अलंकारों का बड़े चातुर्य से अंकन किया है। 'तांबे के कीड़े' नाटक की भाषिक–संरचना पाश्चात्य एब्सर्ड नाटकों की परम्परा में परिलक्षित होती है।

14.6 कठिन शब्द

1. द्रष्टव्य	2. परिचायक	3. भावावेश	4. असंगत
5. असम्बद्ध	6. चातुर्य	7. परिलक्षित	8. भंगिमा

14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक की शब्दावली को स्पष्ट कीजिये।

2. 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक की विविध शैलियों का परिचय दीजिए।

3. 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक की भाषिक विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

4. 'तांबे के कीड़े' असंगत नाटक के शिल्प–विधान को स्पष्ट कीजिए।

14.8 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

1. डॉ. जयनाथ नलिन, हिन्दी नाटक, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
2. डॉ. जयदेव तनेजा, हिन्दी नाटक आज–कल, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली
3. डॉ. गोविन्द चातक, आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक एवं संवादीय संरचना, दिल्ली।

....